भारतीय ज्ञान परम्परा

शास्त्रार्थ

पद्धति और अनुप्रयोग

प्रामाणिक ज्ञान के अनुसंधान, संरक्षण एवं संप्रेषण हेतु तकनीकी प्रारूप पर आधारित विश्व की प्रथम वैज्ञानिक पद्धति

सिद्धेश्वर शुक्ल

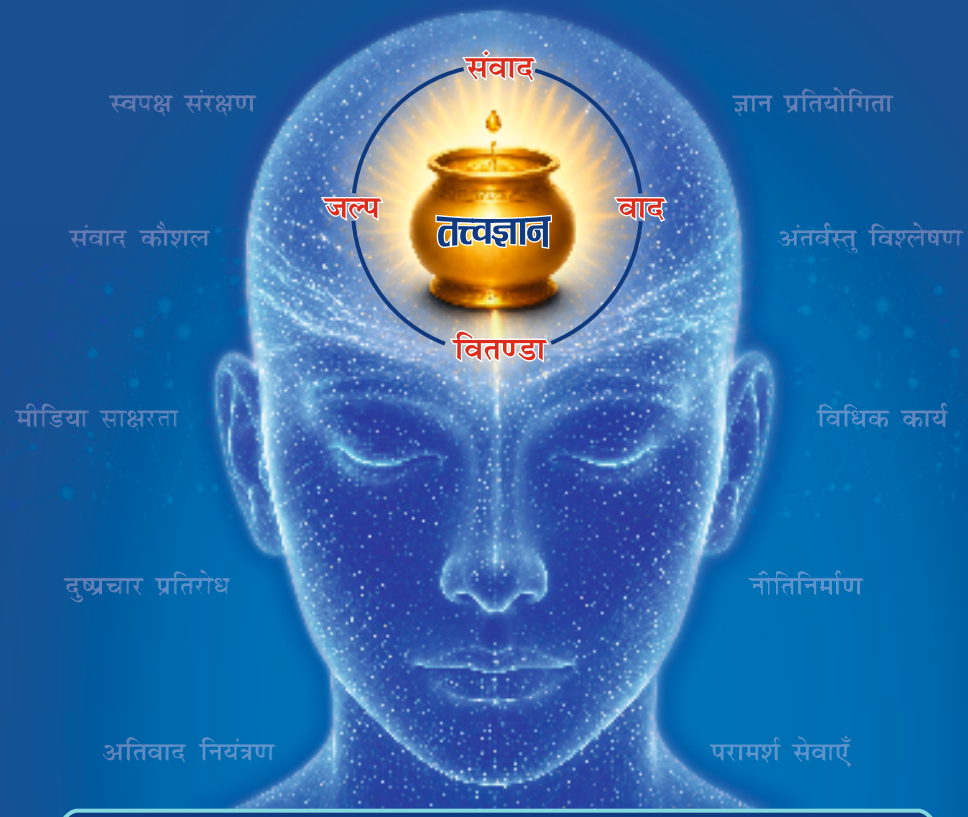

- **वैदिक आधार – ऋग्वेद से आधुनिक युग तक शास्त्रार्थ की वैज्ञानिक विकास-यात्रा**
- **वैश्विक परिप्रेक्ष्य – वैदिक भारत से अंतर्राष्ट्रीय संदर्भों तक शास्त्रार्थ परंपरा का विश्लेषण**
- **समग्र अनुप्रयोग – आध्यात्मिक एवं सामाजिक विषयों पर शास्त्रार्थ का व्यापक दृष्टिकोण**
- **तुलनात्मक अध्ययन – पाश्चात्त्य संचार सिद्धांतों एवं मॉडल्स के साथ समीक्षा**
- **तार्किक संरचना – न्यायसूत्र के १६ पदार्थों पर आधारित तर्क, विश्लेषण एवं निर्णय प्रणाली**

लेखक परिचय

श्री सिद्धेश्वर शुक्ल दिल्ली क्षेत्र में कार्यरत वरिष्ठ पत्रकार, संचार विशेषज्ञ, अग्रणी शोधकर्ता एवं प्रख्यात लेखक हैं। आपने ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, रूटलेज, सेज (SAGE) तथा मनोहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स जैसे राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठित प्रकाशकों के साथ शोध-पुस्तकें, पुस्तक अध्याय और शोध-पत्र प्रकाशित किए हैं।

श्री शुक्ल जी ने आईआईएमसी, नई दिल्ली; आईआईएम अहमदाबाद; तथा सीपीडीएचई, दिल्ली विश्वविद्यालय सहित प्रमुख संस्थानों में आमंत्रित व्याख्यान दिए हैं। आपके लेख The Pioneer, The Economic Times (online), The Sunday Guardian, नवभारत टाइम्स, दैनिक जागरण और अमर उजाला आदि प्रतिष्ठित समाचार पत्रों में प्रकाशित होते रहे हैं।

श्री शुक्ल जी मूलतः अयोध्या मंडल के जनपद अंबेडकर नगर मे स्थित ग्राम आतडीह के निवासी हैं तथा संस्कृत व्याकरण एवं भारतीय दर्शन के प्रख्यात विद्वान स्वर्गीय पंडित श्री सूर्यनारायण शुक्ल के प्रपौत्र हैं।

आपने समाजशास्त्र और पत्रकारिता में द्वि-स्नातकोत्तर उपाधियाँ प्राप्त की हैं। वर्ष 2018–19 में आप भोपाल स्थित माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय में शोध-अध्येता रहे। श्री शुक्ल **विश्व शास्त्रार्थ परिषद** के संस्थापक अध्यक्ष हैं, जो शास्त्रार्थ की पद्धति को आधुनिक विषयों में शोध एवं अनुप्रयोग को बढ़ावा देने हेतु समर्पित एक स्वयंसेवी संस्था है। आप **भारतीय समाज कार्य परिषद** के संस्थापक सदस्य भी हैं, जो भारत में समाज कार्य शिक्षा के भारतीयकरण के लिए समर्पित एक संगठन है। इसके अतिरिक्त, श्री शुक्ल कई प्रतिष्ठित चिंतन-केंद्रों के साथ परामर्शदाता के रूप में जुड़े हुए हैं।

पुस्तक परिचय

शास्त्रार्थ : पद्धति और अनुप्रयोग भारतीय ज्ञान परम्परा में भारतीय प्रज्ञा की एक अत्यन्त समृद्ध परम्परा का पुनरावलोकन करती है—ऐसी संवाद और वाद-प्रतिवाद की प्रणाली, जिसमें बौद्धिक शालीनता के साथ नैतिक उत्तरदायित्व का समन्वय निहित था। प्रतिद्वंद्वी तर्क-प्रतिवाद से भिन्न, शास्त्रार्थ सत्य की सहकारी खोज के रूप में विकसित हुआ, जहाँ विचारों को अनुशासित किन्तु सौहार्दपूर्ण संवाद के माध्यम से स्पष्ट, परीक्षण और परिष्कृत किया जाता था, ताकि विषय के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन हो सके–चाहे वह लौकिक हो या आध्यात्मिक। ऋग्वेद संहिता से बीज रूप में प्राप्त यह विद्या अनेक बुद्धिशील ऋषियों, मुनियों, गुरुओं आदि के सहयोग से पल्लवित और पुष्पित हुई तथा अपने उत्कर्ष काल में सम्पूर्ण दक्षिण एशिया में व्याप्त रही।

यह पुस्तक शास्त्रार्थ के दार्शनिक मूल और ऐतिहासिक रूपों का वैदिककाल से लेकर आधुनिक युग तक अनुशीलन करती है। इसके पश्चात् यह शास्त्रार्थ की पद्धति—तर्कों की संरचना, कुतर्कों की पहचान तथा संवाद की निरंतरता—को प्रस्तुत करते हुए मिथ्या-सूचना, दुष्प्रचार और 'इन्फोडेमिक' जैसी समकालीन चुनौतियों के समाधान में इसकी प्रासंगिकता को रेखांकित करती है। अंततः यह पुस्तक लोकतांत्रिक संवाद, आलोचनात्मक चिंतन, शिक्षण-पद्धति, पत्रकारिता, नीति-निर्माण और डिजिटल संवाद को सुदृढ़ करने में शास्त्रार्थ की भावी संभावनाओं का निरूपण करती है, और इसे बौद्धिक स्पष्टता, ज्ञान-परिष्कार तथा सामाजिक सुदृढ़ता के लिए एक कालातीत भारतीय प्रतिमान के रूप में प्रस्तुत करती है।

●●●

@chaukhambabooks

यह पुस्तक व्यवस्थित वाद-प्रतिवाद की पद्धतियों की अत्यन्त आवश्यक समझ प्रदान करती है। आज के समय में, जहाँ पर्याप्त बौद्धिक अनुशासन के अभाव में आडंबरपूर्ण वक्तव्य और तीव्र भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ प्रमुख हो गई हैं, तथाकथित प्रभावकारों ने गंभीर संवाद की हमारी परम्परा का उपहास बना दिया है। सम्मानपूर्ण असहमति के स्थान पर राजनीतिक पक्षधरता और द्वैध दृष्टिकोण ने जगह ले ली है। बौद्धिक उन्नति के प्रेरक के रूप में वाद-प्रतिवाद की भूमिका लगभग लुप्त हो गई है। मैं लेखक को बधाई देता हूँ और इस महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए उनका आभार व्यक्त करता हूँ।

राजीव मल्होत्रा

संस्थापक, इन्फिनिटी फाउंडेशन, प्रिन्सटन, अमेरिका

'शास्त्रार्थ : पद्धति और अनुप्रयोग' एक सुव्यवस्थित शोध पर आधारित, सहज पठनीय और समयोचित कृति है, जो एक समृद्ध और मूल्यवान स्वदेशी परम्परा को पुनर्जीवित करते हुए तर्क-वितर्क, संचार और वक्तृत्व के अध्ययन में वैश्विक परिप्रेक्ष्य से नए और महत्त्वपूर्ण आयाम जोड़ती है। यह पुस्तक शास्त्रार्थ और न्याय की समृद्ध परम्परा तथा उसके निहितार्थों को विशिष्ट रूप से उद्घाटित करती है और उनके समकालीन अनुप्रयोगों का कुशलतापूर्वक अनुगमन करते हुए संचार विज्ञान के सिद्धांत और व्यवहार में वर्तमान समस्याओं के समाधान की दिशा भी प्रस्तुत करती है।

प्रो. (डॉ.) कीथ लॉयड

केंट स्टेट यूनिवर्सिटी एट स्टार्क, अमेरिका

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी-221001
chaukhambasurbharatiprakashan@gmail.com
www.chaukhamba.co.in www.chaukhambabooks.co.in

WEBSITE www.chaukhamba.co.in
WHATSAPP Whatsapp scan

ISBN : 978-81-689412-2-9
₹1695/-

पुस्तक, प्रबुद्धजनों की दृष्टि से.....

शास्त्रार्थ की प्राचीन ज्ञान-परंपरा पर आधारित यह पुस्तक संवादात्मक परिवेश में भाषण का समालोचनात्मक विश्लेषण करने के लिए एक तकनीकी रूपरेखा प्रस्तुत करती है, जिससे विषय के वास्तविक स्वरूप को समझा जा सके। इसमें मीडिया और सोशल मीडिया पर फैल रही भ्रामक एवं दुष्प्रचारात्मक सूचनाओं से निपटने हेतु मीडिया साक्षरता का एक प्रभावी मॉडल विकसित किए जाने की प्रबल संभावना दिखाई देती है, जो हमारे समय की एक बड़ी चुनौती है। यह कृति आधुनिक विषयों-विशेषकर संप्रेषण और मीडिया अध्ययन के दृष्टिकोण से भारतीय ज्ञान प्रणाली को समझने और उस पर शोध करने के लिए अनेक शोधकर्ताओं को प्रेरित करेगी।

-प्रो. (डॉ०) सुमित नरूला

डीन, द टाइम्स स्कूल ऑफ मीडिया
बेनेट विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा, भारत

यह पुस्तक भारत की दार्शनिक वाद-विवाद की उस गहन परंपरा का अन्वेषण करती है, जहाँ सत्य का उद्घाटन मतवाद के माध्यम से नहीं, बल्कि सार्थक संवाद से होता था। शास्त्र, तर्क और नैतिकता में निहित शास्त्रार्थ की बौद्धिक परंपरा ने भारत में तत्वमीमांसा से लेकर राजनीति तक विविध विषयों में समालोचनात्मक चिंतन को पोषित किया और देश की बौद्धिक विरासत को आकार दिया। यह पुस्तक समकालीन चिंतन, संवाद और शिक्षा को पुनर्जीवित करने में शास्त्रार्थ की प्रासंगिकता को अत्यंत सुव्यवस्थित और प्रभावी ढंग से उजागर करती है।

- प्रो. (डॉ०) पूजा राणा

अमिटी स्कूल ऑफ कम्युनिकेशन
अमिटी विश्वविद्यालय, गुरुग्राम, भारत

यह पुस्तक शास्त्रार्थ की भारतीय पद्धतियों पर केंद्रित है, जिसमें केवल ग्रंथों के अर्थ ही नहीं, बल्कि पारंपरिक अनुसंधान, वाद-विवाद और संवाद की प्रकृति

तथा उनकी वर्तमान संदर्भों में प्रासंगिकता पर भी विचार किया गया है। अतीत की खोज विभिन्न आकांक्षाओं से प्रेरित होती है, और उन्हीं में से एक आकांक्षा इस पुस्तक को सामान्य पाठकों के साथ-साथ इस क्षेत्र के विशेषज्ञों के लिए भी उपयोगी बनाती है। यह कृति भारत के विवादोन्मुख बौद्धिक अतीत की पुनर्प्राप्ति की दिशा में एक और सकारात्मक कदम है।

- प्रो. (डॉ०) रमेश राव

संचार विभाग

कोलंबस स्टेट विश्वविद्यालय, जॉर्जिया, अमेरिका (USA)

भारतीय शास्त्रीय परंपरा में विभिन्न विधाओं में संप्रेषण विज्ञान का समृद्ध भंडार निहित है, जिसे शोध के माध्यम से संदर्भित करना, आधुनिक अकादमिक ढांचे में समाहित करना तथा विद्यार्थियों के संप्रेषण कौशल को सुदृढ़ करने के लिए उपयोग में लाना आवश्यक है। इस दिशा में श्री सिद्धेश्वर शुक्ल के प्रयास सराहनीय हैं, जिनके लिए मैं उन्हें हार्दिक बधाई और शुभकामनाएँ देता/देती हूँ। मुझे आशा है कि यह पुस्तक संप्रेषण विज्ञान और मीडिया अध्ययन के स्वदेशीकरण की दिशा में एक मील का पत्थर सिद्ध होगी।

- प्रो. श्रीनिवास वरखेड़ी

कुलपति, केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय

नई दिल्ली, भारत

यह आकर्षक पुस्तक संस्कृत की चिरस्थायी विरासत और भारतीय ज्ञान प्रणाली की गहराइयों में उतरते हुए शास्त्रार्थ की विकास-यात्रा को वैदिक काल से लेकर उसके समकालीन अनुप्रयोगों तक रेखांकित करती है। यह पाठकों को भारत की बौद्धिक विरासत से समालोचनात्मक रूप से जुड़ने के लिए प्रेरित करती है और आधुनिक समाज में शास्त्रार्थ के प्रभाव को समझने की उनकी दृष्टि को और गहरा करती है।

- डॉ० सज्जन सिंह यादव

आईएएस (1995 बैच) एवं प्रसिद्ध लेखक, भारत

शास्त्रार्थ भारत की प्राचीन संप्रेषण पद्धति रही है, जिसमें ज्ञान, युक्तिसंगत औचित्य और अनुभव के आधार पर किसी विचार को स्थापित किया जाता था। आज के दौर में ज्ञान प्रबंधन के सकारात्मक प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं, किंतु इसके समानांतर व्यवस्था के प्रत्येक स्तर पर मूल्यों का क्षरण हो रहा है।

सत्यनिष्ठा, ज्ञान, और विश्वास पर आधारित सार्थक विमर्श को कमजोर हो रहा है। ऐसे समय में श्री शुक्ल द्वारा शास्त्रार्थ के महत्व को पुनः उजागर करने का यह प्रयास आशा और बौद्धिक पुनर्जागरण की एक नई ज्योति प्रज्वलित करेगा।

– डॉ० अजीत पाठक

राष्ट्रीय अध्यक्ष, पब्लिक रिलेशंस सोसाइटी ऑफ इंडिया (PRSI)

यह पुस्तक भारत की शास्त्रीय संवाद और वाद-विवाद परंपरा शास्त्रार्थ का अन्वेषण करती है तथा उसकी विकास-यात्रा को वैदिक काल से लेकर वर्तमान तक प्रस्तुत करती है। यह भ्रामक सूचनाओं का प्रतिकार करने में शास्त्रार्थ की क्षमता को रेखांकित करते हुए भारतीय ज्ञान प्रणालियों, सुव्यवस्थित तर्क-विन्यास तथा नैतिक और समालोचनात्मक विमर्श की कला को ऐतिहासिक और समकालीन संदर्भों में उजागर करती है।

– डॉ० सूर्य प्रकाश

पूर्व निदेशक, रीवा परिसर

माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय (MCNUJC)

भोपाल, भारत

विषय-सूची

प्राक्कथन xiii

प्रस्तावना xvii

भूमिका xxi

आभार ज्ञापन xxvii

भाग-1: शास्त्रार्थ की मूल अवधारणाएँ

अध्याय 1

शास्त्रार्थ: उत्पत्ति और विविधीकरण 3–26

अध्याय 2

शास्त्रार्थ की व्यापकता 27–53

भाग-2 : युगों के प्रवाह में शास्त्रार्थ

अध्याय 3

मंत्र युग 57–87

अध्याय 4

जल्प युग 88–132

अध्याय 5

भक्ति युग 133–156

अध्याय 6

आधुनिक युग 157–188

भाग-3 : शास्त्रार्थ की पद्धति

अध्याय 7

सुदृढ़ तर्कवाक्यों का निर्माण 191–222

अध्याय 8
तर्कवाक्य में दोषों की पहचान 223–263

अध्याय 9
शास्त्रार्थ के उपागम 264–301

अध्याय 10
शास्त्रार्थ का आयोजन 302–321

अध्याय 11
शास्त्रार्थ और प्रभावी संचार 322–343

भाग–4 : शास्त्रार्थ का भविष्य

अध्याय 12
उदीयमान परिप्रेक्ष्य 347–374

संदर्भ सूची 375–383

❀ ❀ ❀

प्रो. (डॉ०) स्थानेश्वर तिमल्सिना
(Prof. (Dr.) Sthaneshwar Timalsina)
निर्मल के. और ऑगस्टिना मट्टू चेयर,
क्लासिकल इंडिक ह्यूमैनिटीज,
एशियाई और एशियाई-अमेरिकी अध्ययन विभाग
स्टोनी ब्रुक विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क, संयुक्त राज्य अमेरिका

प्राक्कथन

शास्त्रार्थ का भारतीय दार्शनिक परंपरा में एक उत्कृष्ट योगदान है. यह विमर्श के संवादात्मक मॉडल की गहराई को पकड़ने का प्रयास करता है। भारतीय दार्शनिक परंपराओं को दो प्रमुख तत्व विशिष्ट बनाते हैं: उनका जीवंत इतिहास और संवादात्मक अतीत। इन्हें हम एक जैविक सत्ता के रूप में समझ सकते हैं, जो समय के साथ जीवित रहती है– अपने अतीत से सीखती है, स्वयं को पुनर्परिभाषित करती है और अपनी मूल रचनात्मक विशेषताओं को बनाए रखते हुए नए रूपों में प्रकट होती है। भारतीय परिप्रेक्ष्य से यही परंपरा कहलाती है। यह परंपरा संवाद के माध्यम से सुरक्षित रहती है।

तकनीकी दृष्टि से, शास्त्रार्थ शब्द का अर्थ "शास्त्र का अर्थ" है, और इसका मूल उद्देश्य शास्त्रों के गूढ़ अर्थों की खोज करना तथा अंतर्विरोधों का समाधान कर उनके मूल आशय को स्पष्ट करना था। इसके प्रारंभिक रूप को हम वैदिक यज्ञों में वाक्यवाक्य (संवाद-प्रश्नोत्तर) में देख सकते हैं, जो उपमाओं (parables) और विरोधाभासों (paradoxes) के इर्द-गिर्द केंद्रित रहते थे।

इसी संवादात्मक पद्धति से भारत में तीन प्रमुख दार्शनिक परंपराएँ विकसित हुईं: वैदिक अथवा सनातन, बौद्ध, और जैन परंपराएँ। वैदिक परंपरा के अंतर्गत न्याय, मीमांसा और अद्वैत वेदांत जैसी विधाओं ने सैकड़ों वर्षों तक शास्त्रार्थ में भाग लिया। बौद्ध परंपरा में सर्वास्तिवाद, मध्यमिका और सौत्रान्तिक जैसी विचारधाराएँ प्रमुख रहीं।

उत्तरवर्ती काल में वेदांत के द्वैत एवं अद्वैत दर्शन विशेष रूप से प्रभावशाली सिद्ध हुए, जिनका प्रतिनिधित्व क्रमशः माध्व, रामानुज एवं शंकर के दार्शनिक पंथों द्वारा किया गया। इनमें से कुछ शास्त्रार्थ ऐतिहासिक रूप से प्रमाणित हैं, किंतु अधिकांश केवल प्रतिपक्षी (पूर्वपक्ष) की प्रस्तुतियों में सुरक्षित हैं। कुछ शास्त्रार्थ तो काल्पनिक भी थे, जैसे शंकरदिग्विजय या तारानाथ की "History of Buddhism in India" में वर्णित हैं। फिर भी, यह निर्विवाद है कि प्रत्येक दार्शनिक ने अपने शास्त्र की रचना अपने विपक्षी के तर्कों को ध्यान में रखकर ही की।

कुछ दार्शनिकों जैसे अभिनवगुप्त और श्रीहर्ष ने अपने पूर्वपक्ष को सुदृढ़ करने के लिए नवीन वर्गीकरण प्रस्तुत किए। उनके लिए पूर्वपक्ष के तर्क पर्याप्त परिष्कृत नहीं थे; उन्हें अस्वीकार करने योग्य बनाने हेतु पहले उन्हें और विकसित करना आवश्यक था। ये शास्त्रार्थ न केवल चिंतन को निखारने के लिए उपयोगी थे, बल्कि अपने दर्शन-परंपरा की रक्षा और जीवंतता बनाए रखने का भी माध्यम थे।

यदि हम भारतीय दर्शन की किसी पुस्तक को उसी ढंग से पढ़ें जैसे हम नीत्शे (Nietzsche) या हाइडेगर (Heidegger) को पढ़ते हैं, तो हम पूरी तरह भटक जाएंगे। पश्चिमी दार्शनिकों को भी उनके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के बिना नहीं समझा जा सकता, परंतु अद्वैतसिद्धि (मधुसूदन सरस्वती) को पढ़ते समय यदि न्यायामृत (व्यासतीर्थ) को ध्यान में न रखें, तो हम संदर्भ से कट जाएंगे। इन शास्त्रों से केवल दर्शन ही नहीं, बल्कि वे सांस्कृतिक संदर्भ, संवाद की पद्धतियाँ, और वे सैद्धांतिक सीमाएँ भी ज्ञात होती हैं जिनमें भारतीय दर्शन का विकास हुआ। इस दिशा में "शास्त्रार्थ इन इंडिया" पुस्तक के माध्यम से सिद्धेश्वर शुक्ल ने सराहनीय प्रयास किया है।

प्राचीन भारत में छह वर्ष की आयु में ही विद्यार्थी गुरुकुलों में शिक्षा ग्रहण करने प्रारम्भ कर देते थे। कुछ संस्थाएँ विशुद्ध रूप से ज्ञानमीमांसा को समर्पित थीं, जैसे नव्य न्याय। अन्य विधाओं में, जैसे योग, तार्किक जटिलता उतनी विकसित नहीं हो सकी। परिणामत: कुछ परंपराएँ पीछे छूट गईं। व्याकरण शास्त्र कौण्डभट्ट और नागेश के प्रयासों से जीवंत रहा। मीमांसा ने कर्मकांड से हटकर ज्ञानमीमांसा और अर्थमीमांसा पर ध्यान केंद्रित किया। परंतु सांख्य जैसी परंपराओं में नवाचार नहीं हो पाया। इस समय में न्याय शास्त्र ने शास्त्रार्थ के लिए एक नई प्रणाली विकसित की, जिससे वह सबसे प्रमुख बन गया। बौद्ध और जैन परंपराएँ धीरे-धीरे शास्त्रार्थ के परिदृश्य से हटती चली गईं। अचूक तर्कों का निर्माण ही उस युग की प्रमुख प्रवृत्ति बन गई, भले ही इसके कारण गहन तत्वमीमांसा में कमी आई हो। फिर भी जो परंपराएँ बचीं, उन्होंने अपनी पहचान इसी आधार पर कायम रखी।

इस सांस्कृतिक अतीत से कई महत्त्वपूर्ण बातें सीखने को मिलती हैं-केवल वे परंपराएँ जीवित रहीं जो तर्कयुक्त संवाद करती रहीं, जबकि जो परंपराएँ अपने वर्गीकरणों को परिष्कृत नहीं कर सकीं, वे अप्रासंगिक हो गईं। भले ही अनेक तर्क केवल वाद-विवाद के लिए हों या अर्थविपर्यास हों, यह प्रक्रिया तर्क की नई विधियों को जन्म देती रही। स्पष्ट है कि दार्शनिक चिंतन एकालाप में या अलगाव में नहीं फलता-फूलता। हर दार्शनिक स्थिति तर्क की आवश्यकता से उत्पन्न होती है-एक

पक्ष "है" कहता है, तो दूसरा "नहीं है", और तीसरा "शायद" कहकर दोनों की समीक्षा करता है। भारत में दर्शन का अभ्यास विरोधी तर्कों को ध्यान में रखे बिना संभव नहीं। आज भी हम भले ही अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का दावा करते हों, लेकिन हम तर्कपूर्ण असहमति जताने में संकोच करते हैं। हम शिष्टाचार में बंधे हैं, जिससे हम अपनी सीमाओं में ही बंद रह जाते हैं और दूसरों के दृष्टिकोण को बिना समझे खारिज कर देते हैं। संवादहीनता दर्शन को अंधविश्वास में बदल सकती है। इसका एकमात्र समाधान है–विरोधियों को उत्तर देने का अवसर देना और स्वयं उत्तर पाने के लिए चुनौती देना।

वैश्विक मंच पर दार्शनिक संवाद को संस्थागत रूप देने के अनेक कारण हैं। हमें ऐसा मॉडल चाहिए जो इस संवाद को संभव बना सके। एक ज्ञानमीमांसात्मक पक्षपात (epistemic bias) आज भी सक्रिय है, जो यूरोपीय विचार प्रणालियों को प्राथमिकता देता है और गैर-यूरोपीय परंपराओं की तार्किकता को अस्वीकार करता है। उपनिवेशवाद के मलबे में दबे विचारों को तब तक पुनर्जीवित नहीं किया जा सकता जब तक उन्हें स्वर नहीं दिया जाए–और इसके लिए मीमांसात्मक पक्षपात संवाद ही एकमात्र मार्ग है। विविधता में दर्शन की शक्ति है, लेकिन उसे मंच पर लाने से ही वह फलित हो सकती है। भले ही केवल कुछ विचार वैश्विक संवाद में प्रभावी हों, यह छोटा प्रयास भी बड़ा परिवर्तन ला सकता है। यहां तक कि एक सूक्ष्म बदलाव भी पश्चिम-केंद्रित दर्शन के बंद कक्ष को तोड़ सकता है।

संवाद उतना ही प्रकट कर सकते हैं जितना भाषा की सामर्थ्य है। विश्व की रहस्यवादी परंपराएँ भाषा की सत्य को अभिव्यक्त करने की क्षमता पर प्रश्न उठाती हैं, जहाँ संकेत और अर्थ के बीच का द्वैत एक असाध्य अंतर बन जाता है। लेकिन सभी दार्शनिक भाषा को संदेह से नहीं देखते। कुछ के लिए भाषा सत्य को प्रकट करने की शक्ति रखती है–यहां तक कि जब भाषा को अस्वीकार किया जाए, तब भी वह अपना कार्य करती रहती है। जब हम बलपूर्वक सत्य निर्धारित करते हैं, या राज्य (राजकीय सत्ता) विज्ञान और विमर्श की प्रकृति पर नियंत्रण करता है, तो संवाद की अपील व्यर्थ हो जाती है। इसीलिए हमें एक ऐसा सामाजिक मंच चाहिए जहाँ तर्क को बल से दबाया न जाए। संवाद का उद्देश्य वैचारिक समरूपता नहीं बल्कि विभिन्नताओं की संस्थागत स्वीकृति है। ये विभिन्नताएँ अलग-अलग तर्कपद्धतियों और ज्ञानमीमांसा की दिशाएँ लिए हुए हैं। तभी हम विविध समुदायों और संस्कृतियों के अनुभवों को सुरक्षित रख सकते हैं। सिद्धेश्वर शुक्ल का यह प्रोजेक्ट इसी दृष्टि से प्रशंसनीय है।

"शास्त्रार्थ इन इंडिया" पुस्तक प्राचीन भारत में शास्त्रार्थ की विधियों की प्रासंगिकता की पड़ताल करती है–चाहे वह दार्शनिक हो या कानूनी संदर्भों में। सिद्धेश्वर शुक्ल ने इन पद्धतियों के इतिहास और दर्शन की समीक्षा करते हुए उन्हें समकालीन सामाजिक विमर्श के लिए प्रासंगिक बनाया है। प्राचीन सामग्री का यह विश्लेषण आगे और शोध की माँग करता है, और यह कार्य उस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। एक अत्यंत आवश्यक योगदान!

प्रो. (डॉ०) स्थानेश्वर तिमल्सिना
(Prof. (Dr.) Sthaneshwar Timalsina)
निर्मल के. और ऑगस्टिना मट्टू चेयर,
क्लासिकल इंडिक ह्यूमैनिटीज,
एशियाई और एशियाई-अमेरिकी अध्ययन विभाग
स्टोनी ब्रुक विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क, संयुक्त राज्य अमेरिका
संस्थापक / अध्यक्ष: विमर्श फाउंडेशन, संयुक्त राज्य अमेरिका (USA)
तिथि: 06 अप्रैल 2025

❀ ❀ ❀

प्रो. (डॉ०) के.जी. सुरेश
कुलपति
माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता
एवं संचार विश्वविद्यालय (MCU), भोपाल, मध्यप्रदेश
पूर्व महानिदेशक, भारतीय जन संचार संस्थान (IIMC),
नई दिल्ली

प्रस्तावना

मानव जीवन में संचार/ संप्रेषण (Communication) और बौद्धिक विमर्श के महत्व को मानव जाति के प्राचीनतम ज्ञात ग्रंथ – पवित्र ऋग्वेद – में रेखांकित किया गया है। तदनन्तर, प्राचीन भारतीय विद्वानों ने संचार के अनेक विधियों का विकास किया, जिनका प्रयोग अंतर–व्यक्तिगत संचार, समूह संचार, लक्षित समूह संचार तथा जन–संचार के लिए किया गया। सम्राट अशोक के स्तंभ–लेख, जो उनके साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में स्थित अशोक स्तंभों पर उत्कीर्ण थे, यह दर्शाते हैं कि भारतीय ज्ञान परंपरा के विद्वानों ने राज्य की जननीति को समाज के विभिन्न वर्गों तक पहुँचाने के लिए संप्रेषण के सिद्धांतों का कितनी सूक्ष्मता से प्रयोग किया। अकादमिक जगत से इतर, भारतवर्ष की विविध बौद्धिक परंपराओं जैसे शास्त्रार्थ, पंचायतें, नाटक, नृत्य, गीत, लोकगीत आदि में भी इन विधियों का समावेश देखा जा सकता है। हालांकि, पर्याप्त शैक्षणिक समर्थन और नवाचार के अभाव में, इन परंपराओं में से कई या तो लुप्त हो गई हैं या विकृत रूप में अपनी अंतिम साँसें गिन रही हैं।

वर्तमान में उच्च शिक्षा में पढ़ाए जा रहे संप्रेषण के लगभग सभी सिद्धांत और व्यवहार यूरोप और अमेरिकी देशों से आयातित हैं, जिससे भारतीय विश्वविद्यालय अपने यूरो–अमेरिकी समकक्षों के विस्तार केंद्र मात्र बनकर रह गए हैं और आयातित बौद्धिक सिद्धांतों और अवधारणाओं को युवा मस्तिष्कों में समाहित कर रहे हैं। विदेशी बौद्धिक ढाँचों में प्रशिक्षित विद्यार्थी अपने पूर्वजों और मातृभूमि के प्रति सम्मान की भावना कैसे विकसित कर सकते हैं? यह प्रश्न उन सभी देशों के समक्ष है जो कभी ब्रिटिश या यूरोपीय औपनिवेशिक शासन के अधीन रहे। हालांकि, चीन और कई अफ्रीकी देश अपने स्वदेशी परंपराओं और राष्ट्रीय चरित्र के अनुरूप संप्रेषण के सिद्धांत, मॉडल और व्यवहार विकसित कर रहे हैं। भारत और नेपाल के विद्वानों तथा शोधकर्ताओं ने 'साधारणीकरण संप्रेषण सिद्धांत' के विकास और प्रचार में सराहनीय प्रयास किए हैं, लेकिन इस दिशा में अभी बहुत अधिक शोध–कार्य की आवश्यकता है।

बीसवीं शताब्दी के महान विचारक और दार्शनिक पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने विचारों, बौद्धिक उत्पादों और व्यवहारों के आयात से उत्पन्न दुष्परिणामों के प्रति चेताया था। इसी संदर्भ में उन्होंने 'युगानुकूलन' और 'देशानुकूलन' की अवधारणाएं प्रस्तुत की थीं, जो आज भी सामाजिक विज्ञान की विभिन्न भाषायी शाखाओं के उपनिवेशमुक्ति (decolonizasation) और स्वदेशीकरण (indegenisation) में अत्यंत प्रासंगिक हैं। इसके साथ ही, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भारतीय ज्ञान परंपरा पर अनुसंधान को विशेष महत्व प्रदान करती है, जो पंडित जी के दार्शनिक दृष्टिकोण के सर्वथा अनुरूप है।

जहाँ प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण संप्रेषण में संदेश और संवाद-कौशल पर विशेष बल देता था, वहीं यूरो-अमेरिकी दृष्टिकोण तकनीकी विकास के साथ विकसित हुआ। किंतु इंटरनेट आधारित संप्रेषण तकनीकों के बढ़ते प्रभुत्व के कारण अब पुनः 'संदेश' पर ही ध्यान केंद्रित हो गया है। ऐसे में, स्वदेशी संचार सिद्धांतों, मॉडलों और अनुप्रयोगों के विकास की अत्यंत आवश्यकता है।

वर्तमान में भारत में शिक्षा, प्रशिक्षण तथा पेशेवर व्यवहार में प्रयुक्त अधिकांश संप्रेषण सिद्धांत और उनके अनुप्रयोग विदेशी स्रोतों एवं प्रतिमानों पर आधारित हैं। यह आयातित ज्ञान यूरो-अमेरिकी विद्वानों द्वारा उनके देशों की आवश्यकताओं के अनुरूप किए गए अनुभवजन्य अध्ययनों पर आधारित है, जो भारतीय परिप्रेक्ष्य में हमेशा उपयुक्त नहीं होते। परिणामस्वरूप, यह शिक्षा एक सीमा के बाद विद्यार्थियों की रचनात्मकता और स्वतंत्र चिंतन को बाधित करती है, जिससे वे अपने कार्यक्षेत्रों में कम प्रभावी सिद्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त, विदेशी बौद्धिक दृष्टिकोणों के प्रभाव से विद्यार्थियों में अपनी संस्कृति और राष्ट्र के प्रति हीन भावना तथा "विदेशी मूल की श्रेष्ठता" का भ्रम जन्म लेता है, जो यदि समय रहते रोका न जाए तो "भारतीय ज्ञान प्रणाली" (Indian Knowledge System) से घृणा तक पहुँच सकता है।

भारत की विशाल और समृद्ध ज्ञान-परंपरा के होते हुए भी यह एक विडंबना है कि अंतरराष्ट्रीय बौद्धिक जगत में हमारी भूमिका प्रायः केवल एक उपभोक्ता तक सीमित रह गई है। इसलिए, इस क्षेत्र में उच्च गुणवत्ता वाले अनुसंधान की नितांत आवश्यकता है, जिससे भारत में संप्रेषण के सिद्धांतों और वैज्ञानिक विधियों का विकास और प्रचार-प्रसार किया जा सके। भविष्य में यह प्रयास वैश्विक स्तर पर संप्रेषण अध्ययन के एक समानांतर "भारतीय परिप्रेक्ष्य" (Indian School) के रूप में उभर सकता है।

मुझे आशा है कि यह पुस्तक "Shastrartha in India: Methodology and Applications" (भारत में शास्त्रार्थ: पद्धति और अनुप्रयोग) छात्रों, शिक्षकों, और पेशेवरों – विशेषकर कॉर्पोरेट संप्रेषण, जनसंपर्क, लोकनीति, वक्तृत्व कला, सामाजिक कार्य, मीडिया, लेखन (पाठ्य) और मल्टीमीडिया प्रस्तुति – में संवाद कौशल को बढ़ाने में सहायक सिद्ध होगी। साथ ही, यह युवाओं को उनकी सांस्कृतिक जड़ों से पुन: जोड़ने और उनमें आत्मविश्वास विकसित करने का कार्य करेगी। यह पहल नि:संदेह व्यावसायिक दक्षता, जीवन के प्रति समग्र दृष्टिकोण और कार्यक्षमता में वृद्धि को प्रोत्साहित करेगी। अंतत: यह भारतीय ज्ञान परंपरा के सनातन मूल्यों के वैश्विक प्रचार का मार्ग प्रशस्त करेगी।

मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक एक सुदृढ़ आधारशिला सिद्ध होगी जो निम्नलिखित क्षेत्रों में ज्ञान-सृजन में सहायक बनेगी – (क) राष्ट्र निर्माण एवं विकास में मीडिया की रचनात्मक भूमिका पर विमर्श (ख) कॉर्पोरेट और जनसंपर्क क्षेत्र में कार्यरत पेशेवरों की संवाद-कुशलता में सुधार (ग) विधिक (कानूनी) प्रारूपण, वाद-विवाद और न्यायशास्त्र में सुधार (घ) सामाजिक कार्यकर्ताओं की संवाद कौशल में वृद्धि जिससे वे अधिक प्रभावी पेशेवर बन सकें (ङ) सार्वजनिक नीति निर्माण और प्रभाव विश्लेषण की दक्षता, (च) शिक्षार्थियों के भाषण, लेखन और प्रस्तुति कौशल में वृद्धि (छ) युवाओं को अपराधी, असामाजिक और राष्ट्रविरोधी तत्वों के भावनात्मक जाल से बचाने हेतु तार्किक प्रतिरक्षा शक्ति का निर्माण और सामाजिक समरसता की सुरक्षा।

सिद्धेश्वर शुक्ल को उनके इस नवाचार हेतु बहुत-बहुत शुभकामनाएं और शुभाशीर्वाद।

प्रो. (डॉ०) के. जी. सुरेश

कुलपति

माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता

एवं संचार विश्वविद्यालय (MCU), भोपाल, मध्यप्रदेश

पूर्व महानिदेशक, भारतीय जन संचार संस्थान (IIMC), नई दिल्ली

दिनांक: 18 जून 2024.

भूमिका

कच्चित्ते ब्राह्मणा श्शर्म सर्वशास्त्रार्थकोविदाः।
आशंसन्ते महाप्राज्ञ पौरजानपदैस्सह।।

(रामायणम्, 2.100.64)

(हे अत्यन्त विवेकशील भरत, शास्त्रों के वास्तविक अर्थ को समझने वाले विद्वान ब्राह्मण तथा नगर और देश के सामान्य निवासी–ये सभी, मुझे विश्वास है, आपके सुख और कल्याण की ही अभिलाषा रखते हैं।)

शास्त्रों के वास्तविक अर्थ को समझने वाले विद्वान ब्राह्मणों तथा समस्त सामान्य जन की कुशलता की चिंता एक ही श्वास में करने वाले अयोध्या–नरेश प्रभु श्रीराम के श्रीचरणों में कोटि–कोटि प्रणाम।

"शास्त्रार्थ इन इंडिया: मेथडोलॉजी एंड एप्लिकेशन्स" का हिंदी संस्करण "भारतीय ज्ञान परंपरा में शास्त्रार्थ: पद्धति एवं अनुप्रयोग" के रूप में प्रस्तुत करना मेरे लिए विशेष दायित्व और संतोष का विषय है। आदरणीय आचार्यों के शुभाशीर्वाद, मित्रों एवं शुभचिंतकों के आग्रह तथा हिंदी पाठकों की निरंतर माँग के अनुरूप यह हिंदी संस्करण प्रस्तुत करने का मेरा एक विनम्र प्रयास है। यह कृति भारतीय ज्ञान–परंपरा की उस समृद्ध बौद्धिक विरासत को आधुनिक संदर्भों में पुनर्स्थापित करने का एक विनम्र प्रयास है, जिसमें संवाद, तर्क और सत्य की खोज केंद्रीय भूमिका निभाते हैं। शास्त्रार्थ केवल वाद- प्रतिवाद की होने के साथ–साथ विचार–विमर्श की एक सुसंस्कृत, नैतिक और अनुशासित परंपरा भी है। यह संस्करण हिंदी पाठकों के लिए संप्रेषण, मीडिया तथा समालोचनात्मक चिंतन को भारतीय दृष्टि से समझने का एक सार्थक माध्यम सिद्ध हो–यही मेरी प्रभु श्रीराम से कामना है।

सदियों तक संस्कृत भारतीय उपमहाद्वीप (दक्षिण एशिया) में शिक्षाविदों और पेशेवरों की प्रमुख भाषा रही। औपनिवेशिक शासन के दौरान और उसके पश्चात भेदभावपूर्ण नीतियों के कारण इसके प्रचलन में कमी अवश्य आई, किंतु संस्कृत ग्रंथों में निहित विविध विषयों का ज्ञान आज भी विश्वभर के विद्वानों द्वारा सराहा जाता है।

तथापि, समुचित शोध के अभाव और समकालीन आवश्यकताओं के अनुरूप अद्यतन न हो पाने के कारण ज्ञान का यह अमूल्य भंडार युवा पीढ़ी के लिए धीरे-धीरे आकर्षण खोता जा रहा है।

भारत की राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (एनईपी 2020) ने इस समृद्ध विरासत को भारतीय ज्ञान प्रणाली (IKS) के रूप में मान्यता दी है और कई विश्वविद्यालयों में इसे स्नातकोत्तर स्तर पर एक विषय के रूप में प्रस्तुत किया है। एनईपी-2020 के अनुसार, "गणित, दर्शन, संस्कृत व्याकरण, संगीत, राजनीति, चिकित्सा, वास्तुकला, धातुकर्म, नाटक, काव्य, कथाकथन आदि से संबंधित अपार ज्ञान-भंडार-जो विभिन्न धर्मों के अनुयायियों, विषय-विशेषज्ञों तथा समाज के विविध वर्गों और सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमियों से आए लोगों द्वारा हजारों वर्षों में रचित है" (4.17)। इस दृष्टि को आगे बढ़ाने के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) भारतीय ज्ञान प्रणाली पर अंतर्विषयक शोध को प्रोत्साहित करने और उसके शाश्वत ज्ञान को समकालीन शिक्षा व्यवस्था में समाहित करने हेतु निरंतर प्रयास कर रहा है।

आज लिखित और मौखिक-दोनों रूपों में संप्रेषण को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता के लिए अनिवार्य माना जाता है, चाहे वह व्यावसायिक, सामाजिक, सार्वजनिक, पारिवारिक या सामुदायिक क्षेत्र हो। मानव जीवन में संप्रेषण के महत्व को सर्वप्रथम पवित्र ऋग्वेद में रेखांकित किया गया था, जो मानव सभ्यता का सबसे प्राचीन ज्ञात ग्रंथ है।

इसके पश्चात भारतीय विद्वानों, मनीषियों, वैज्ञानिकों और पेशेवरों ने व्याख्यान, कथोपकथन, वर्णन तथा तर्क-विन्यास से संबंधित अनेक सिद्धांतों और विधियों का विकास किया, जिनका उपयोग संप्रेषण, ज्ञान-प्रसार, समालोचनात्मक विश्लेषण, विमर्श-अध्ययन, नीति-निर्माण, निर्णय-प्रक्रिया, शोध और लेखन में किया गया। इसी ज्ञान-परंपरा ने विश्वस्तरीय वक्ताओं, तर्कशास्त्रियों, सार्वजनिक वक्ताओं, लेखकों, कवियों, कूटनीतिज्ञों और प्रभावशाली विचारकों को जन्म दिया। यद्यपि इस ज्ञान का एक बड़ा हिस्सा कालक्रम में लुप्त हो गया, तथापि इसके अनेक विचार आज भी ग्रंथों में सुरक्षित हैं और भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक प्रथाओं में निरंतर स्पंदित होते दिखाई देते हैं। शास्त्रार्थ की विधियों और व्यवहारों से संबंधित भारतीय ज्ञान प्रणाली के कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ ब्रिटिश औपनिवेशिक काल से ही अंग्रेज़ी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं में अनूदित होकर विश्व के पुस्तकालयों में उपलब्ध हैं।

अध्याय 1

शास्त्रार्थः उत्पत्ति और विविधीकरण

शास्त्रार्थः शब्दार्थ और अवधारणा

शास्त्रार्थ शब्द संस्कृत दो शब्दों से मिलकर बना है "**शास्त्र**", जिसका अर्थ है "ज्ञान का एक विषय" या "अनुशासन" (Subject or Discipline of Knowledge), और "अर्थ" का तात्पर्य है "भावार्थ" (Meaning)।

ऑक्सफोर्ड अंग्रेज़ी शब्दकोश में '**शास्त्र**' शब्द को '**पवित्र ग्रंथ**' के रूप में परिभाषित किया गया है, विशेष रूप से सनातन/ हिंदू[1&2] धर्म तथा बौद्ध दर्शन के

1. 'Hinduism' शब्द का प्रयोग यूरोकेंद्रित विद्वानों द्वारा हिंदू धर्म के लिए तथा 'Buddhism' शब्द का प्रयोग बुद्ध के धम्म के लिए किया गया है। ऑक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार '-ism' प्रत्यय एक संज्ञा है, जिसका प्रयोग प्रायः किसी विचार-समूह, विश्वास-प्रणाली या आचरण-पद्धति के विरोधात्मक अर्थ (disapproving) में किया जाता है और इसका भाव सामान्यतः नकारात्मक माना जाता है। यह प्रत्यय भारत में औपनिवेशिक शासन के समय यूरोकेंद्रित (यूरोप से आयातित बौद्धिक उत्पादों-दर्शनों, सिद्धांतों, खोजों और आविष्कारों-को सर्वश्रेष्ठ तथा ज्ञान के क्षेत्र में शेष विश्व के योगदानों को निम्न मानने की औपनिवेशिक मानसिकता) विद्वानों द्वारा 'Hindu' शब्द के साथ जोड़ा गया, जिसे स्पष्ट रूप से भेदभावपूर्ण तथा हिंदू धर्म के प्रति हीन भावना से प्रेरित माना जा सकता है। यह यूरोकेंद्रित विद्वानों की औपनिवेशिक मानसिकता का द्योतक है।
जहाँ एक ओर '-ism' प्रत्यय हिंदू, सिख, बुद्ध तथा भारतीय मूल के अन्य पंथों के साथ जोड़ा गया है, वहीं ईसाइयत और इस्लाम के संदर्भ में इसका प्रयोग नहीं किया जाता। अतः आगे से विभिन्न धर्मों के नाम उसी रूप में प्रयुक्त किए जाएँगे, जिस रूप में उन्हें उनके अनुयायी अपनी मूल भाषा में जानते और प्रयोग करते हैं, जैसे हिंदू धर्म, सिख पंथ, बुद्ध-धम्म, जैन दर्शन, ईसाइयत, इस्लाम आदि।
2. सनातन/हिंदू धर्म के सिद्धांतों के अनुसार जीवन के चार परम उद्देश्य (लक्ष्य) माने गए हैं-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें धर्म का आशय कर्तव्य, सदाचार और धार्मिक आचरण से है; अर्थ का संबंध भौतिक समृद्धि और जीवन-निर्वाह के साधनों से है; काम से तात्पर्य मानवीय इच्छाओं की पूर्ति से है, जिसमें दांपत्य जीवन से संबंधित संभोग सहित सभी प्रकार के दांपत्य-सुख भी सम्मिलित है; और मोक्ष का अर्थ आत्मा की मुक्ति या परम सत्य की अनुभूति से है।

संदर्भ में। हालाँकि 'अर्थ' शब्द की परिभाषा अंग्रेज़ी शब्दकोशों में नहीं मिलती, फिर भी अंग्रेज़ी साहित्य में इसका अनुवाद 'धन', 'अर्थ' तथा 'वैदिक धर्म के दूसरे लक्ष्य' के रूप में किया गया है। इसी प्रकार 'शास्त्रार्थ' शब्द की भी अंग्रेज़ी शब्दकोशों में कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं मिलती। फिर भी भारतीय ज्ञान परंपरा के विद्वानों द्वारा इसे वाद-विवाद का एक रूप, या सामान्य रूप से सभी प्रकार के वाद-विवाद (debate) के लिए प्रयुक्त शब्द, अथवा एक विशिष्ट प्रकार के शास्त्रीय वाद-विवाद के रूप में अनुवादित करने के प्रयास किए गए हैं। तथापि, इन अंग्रेज़ी अनुवादों में से कोई भी शास्त्रार्थ के वास्तविक अर्थ को पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं कर पाता।

भारतीय ज्ञान प्रणाली में शास्त्र

'शास्त्र' शब्द की उत्पत्ति को संस्कृत की दो मूल धातुओं या मूल शब्दों– शस् और शंस– से सिद्ध किया जा सकता है। अर्थात् संस्कृत व्याकरण की शब्द-निर्माण विधि के अनुसार इन दोनों में से किसी एक मूल धातु या मूल शब्द– शस् अथवा शंस– से 'शास्त्र' शब्द प्राप्त किया जा सकता है। 'शस्' का अर्थ है अनुशासित करना या शासन करना, जबकि 'शंस' का अर्थ है वर्णन करना या स्वीकृति के साथ निर्देश देना। इस प्रकार 'शास्त्र' का व्युत्पन्न अर्थ यह है कि वह जो जीवन में हमें अनुशासित करता है, या जो हमारे जीवन के लिए नियम और मार्ग निर्धारित करता है।

अमर सिंह[1] द्वारा रचित संस्कृत के प्राचीनतम उपलब्ध शब्दकोश अमरकोश में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया गया है[2], अर्थात् शास्त्र, आज्ञा (किसी कार्य को विशेष विधि से करने का निर्देश) तथा ग्रंथ (पुस्तक)। डॉ० हरदेव बाहरी ने अपने हिंदी शब्दकोश में 'शास्त्र' के चार भिन्न अर्थ बताए हैं– विधि-संहिता, धर्मग्रंथ, धार्मिक ग्रंथ तथा अनुशासन या विज्ञान। वामन शिवराम आप्टे ने भी 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग इसी प्रकार के अर्थों में किया है। उन्होंने 'शास्य' शब्द का प्रयोग भी किया है, जिसका अर्थ है– जो शिक्षण या अध्ययन के योग्य हो, जो अनुशासन

1. इस ग्रंथ का मूल नाम 'नामलिङ्गानुशासनम्' है, किंतु वर्तमान में यह अपने कर्ता के नाम पर 'अमरकोश' के रूप में प्रसिद्ध है। अमर सिंह चौथी शताब्दी ईस्वी में चन्द्रगुप्त द्वितीय के राजदरबार के विद्वान थे। उन्होंने अपने ग्रंथ में अठारह पूर्ववर्ती संस्कृत कोशों का उल्लेख किया है, जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं। अमरकोश की रचना काव्यात्मक (श्लोक और सूत्र) रूप में की गई है।
2. निदेशग्रंथयो: शास्त्रम् (शास्त्र, आज्ञा तथा ग्रंथ)। अमरसिंह कृत अमरकोश, संपादक आर. बी. पंडित (1952)।

या शासन के योग्य हो तथा दंड-संहिता[1]। आप्टे ने यह भी उल्लेख किया है कि 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग प्रत्यय के रूप में भी किया जाता है, जिससे किसी विषय, विज्ञान या ग्रंथ का बोध होता है। यह अंग्रेज़ी के प्रत्यय 'लॉजी' के समान है, जैसे– समाजशास्त्र (Sociology), जीवविज्ञान (Biology), राजनीतिशास्त्र (Political Science) आदि।

'शास्त्र' शब्द का सबसे प्राचीन ज्ञात प्रयोग ऋग्वेद[2] में मिलता है, जिसे आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार लगभग 1500 ईसा पूर्व पूर्ण हुआ[3] माना जाता है। यहाँ इसे 'अनुशासन' (Discipline) के रूप में अनुवादित किया गया है (विल्सन, 1866 और काम्बोज़, 2013)। आदि शंकराचार्य ने अपनी टीका में 'शास्त्र' को 'शासन' (Governing) या 'दंडकारी (Punishing) के रूप में व्याख्या किया है (आर्य और जोशी, 1998)। यहाँ यह उल्लेख करना भी समीचीन होगा कि आजकल विश्वविद्यालयों में विद्या के लिए सब्जेक्ट के स्थान पर डिसिप्लिन (अनुशासन) डिसिप्लिनरी और इंटरडिसिप्लिनरी जैसे शब्द प्रगतिशील माने जाने लगे हैं। हालाँकि, विद्या के संदर्भ में अनुशासन (Discipline) शब्द का प्रयोग भारतीय ज्ञान प्रणाली में बहुत पहले से ही होता रहा है, जैसे– पाणिनीय लिङ्गानुशासनम्। काशी (वाराणसी)

1. शास्य का अर्थ है: (1) वह जिसे पढ़ाया या उपदेशित किया जा सके; (2) जिसे अनुशासित या नियंत्रित किया जा सके; (3) दण्ड-संहिता। - अप्टे (2007), संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश, पृ. 1015।

2. नहि षस्तव नो मम शास्त्रे अन्यस्य रण्यति।
यो अस्मान् वीर आनयत्।। -ऋग्वेद, 8.33.16.
जो इन्द्र हमें सदैव मार्गदर्शन देते रहे हैं, वे न तो आपके शास्त्र में, न ही मेरे या किसी और के शास्त्र में आनन्द लेते हैं। जिसने हमें वीर रूप से उत्पन्न किया, वही शास्त्र का अधिकारी नहीं है। विल्सन (1866) के अनुसार, शास्त्र का अर्थ शासना या शासन करना, अर्थात् अनुशासन या दण्ड देना समझा जाता है। डॉ० जियालाल कंबोज़ इस श्लोक का भावार्थ इस प्रकार समझाते हैं - 'सर्वशक्तिमान, जिसने हमें इस संसार में लाया, वह किसी के शासन या अनुशासन के योग्य नहीं हैं - न मेरा, न आपका। वे स्वतंत्र रूप से विचरते हैं।'

3. ऋग्वेद की आयु को लेकर विद्वानों की दृष्टियाँ काफी भिन्न हैं। ए.एस. अल्तेकर ने अपनी पुस्तक Education in Ancient India (1934) में प्राचीन वैदिक काल को लगभग 2000 ईसा पूर्व तक माना है (पृ. 116)। प्रो. राधवल्लभ त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक Vada in Theory and Practice (2016) में वैदिक काल या मंत्रकाल को 3000 ईसा पूर्व से 500 ईसा पूर्व तक माना है (पृ. 40-41)। सरस्वती नदी की खोज के बाद ऋग्वेद की तिथि पर विद्वानों के बीच पुनर्विचार हो रहा है - जे. भारत (2020), Saraswati River of the Rigveda, Transactions, vol. 42, no. 2, The Institute of Indian Geographers, JNU, नई दिल्ली।

में संस्कृत माध्यम के विद्वान परंपरा से विषय (subject) के स्थान पर विद्या या अनुशासन[1] शब्द का प्रयोग करते हैं।

हालाँकि, वैदिक काल में किसी विषय (पाठ्यक्रम) या ग्रंथ के लिए '**शास्त्र**' शब्द का प्रत्यय के रूप में प्रयोग प्रचलित नहीं था। ऋग्वेद में किसी अन्य ग्रंथ या विषय (पाठ्यक्रम) का उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन अथर्ववेद में ज्ञान के तीन विषय या पाठ्यक्रम का उल्लेख है–इतिहास, पुराण और नरसंसी ग्रंथ (अल्टेकर 1934, पृ. 118), हालांकि 'शास्त्र' शब्द का प्रत्यय के रूप में प्रयोग नहीं किया गया है। इसी प्रकार, वैदिक काल से अन्य ज्ञान के विषयों और ग्रंथों/पाठों के लिए विभिन्न प्रत्यय या नाम प्रयोग किए गए, जैसे संहिता, वेदांग, आरण्यक, व्याकरण, उपनिषद्, निरुक्त, गणित, ज्योतिष, न्यायसूत्र आदि। बाद के काल में 'विद्या' प्रत्यय का प्रयोग शुरू हुआ (समान स्रोत, पृ. 126), जैसे–नक्षत्रविद्या (खगोलशास्त्र) और सर्पविद्या (सर्पशास्त्र)। वर्तमान में, संस्कृत, हिंदी, मराठी, बंगाली और कई अन्य भारतीय भाषाओं के विद्वानों में 'शास्त्र' प्रत्यय का प्रयोग किसी ज्ञान के ग्रंथ या विषय के संदर्भ में प्रचलित है।

आचार्य चाणक्य (कौटिल्य) द्वारा रचित "अर्थशास्त्र" प्राचीन काल से ही 'शास्त्र' प्रत्यय के शीर्षक के साथ संभवत: सबसे लोकप्रिय ग्रंथ माना जाता है। अपने ग्रंथ में भी चाणक्य ने ज्ञान के विषय के लिए 'विद्या' शब्द[2] का प्रयोग किया है। इसके बाद, 'शास्त्र' प्रत्यय धीरे-धीरे अधिक प्रचलित होने लगा, जैसे–धर्मशास्त्र (धर्म का विज्ञान), तर्कशास्त्र (तर्कशास्त्र), चिकित्सा-शास्त्र (वैदिक चिकित्सा विज्ञान) आदि। चाणक्य के शिष्य कामंदक[3] ने 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग सभी प्रकार की विद्या

1. शास्यते एनेन इति शासनम्; शास्यते इति शास्त्रम् (शास्त्र वह है जो हमें अनुशासित या नियंत्रित करता है)। यह व्याख्या वाराणसी के संस्कृत विद्वानों में सामान्यत: मान्य है। यद्यपि किसी ग्रंथीय संदर्भ का उल्लेख नहीं है, इसे उनके गुरुओं से प्राप्त मौखिक परंपरा से जोड़ा जाता है। यह परंपरा-प्राप्त ज्ञान संस्कृत विद्वानों के बीच सर्वोच्च सम्मानित माना जाता है और इसे वे लोग ज्ञान का शुद्धतम रूप मानते हैं।
2. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।
   विद्याश्चतस्र अवैत योगक्षेमाय देहिनाम्।। – अर्थशास्त्र I. 2.2
   आन्वीक्षिकी (Science of Enquiry), त्रयी (वेद), वार्ता (व्यावसायिक ज्ञान) और दण्डनीति (राजनीति/ विधि विज्ञान) वे विद्याएँ हैं जो मनुष्य और समाज के संरक्षण के लिए आवश्यक हैं (कांगले, 1963)।
3. शास्त्राय गुरुसंयोग: शास्त्रं विनयवृद्धये।
   विद्याविनीतो नृपतिर्न कृच्छ्रेषु वसीदति।। –कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग II. 62
   शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु/शिक्षक का सहयोग आवश्यक है, जिससे विनय और

अध्याय 2

शास्त्रार्थ की व्यापकता

शास्त्रार्थः विषयवस्तु और परिक्षेत्र

भारतीय ज्ञानपरंपरा में शास्त्रार्थ का आयोजन सभी ज्ञात विद्याओं (Disciplines/ Subjects) में किया जाता था, ताकि देश, काल और परिस्थिति के अनुसार संबंधित विद्या के संदर्भ में वाणी या संदेश के वास्तविक तथा प्रामाणिक अर्थ का निर्धारण किया जा सके। इस विधि के द्वारा परिकल्पनाओं और सिद्धांतों की गुणात्मक परीक्षा की जाती थी[1], दोषों का निरसन करके विषयवस्तु के सत्य स्वभाव अथवा तत्त्वज्ञान की खोज और स्थापना की जाती थी। इसके अतिरिक्त ज्ञान-सृजन और नवोन्मेष हेतु भी इस पद्धति का प्रयोग किया जाता था। इसके अतिरिक्त शास्त्रार्थ की विधि और प्रक्रिया का उपयोग राजकीय निर्णय, नीति-निर्माण, अध्ययन-अध्यापन तथा शिक्षण संस्थानों में विद्यार्थियों के मूल्यांकन आदि में किया जाता था। यह विधि किसी एक बृहद् सिद्धांत का पक्ष नहीं लेती, बल्कि लघु सिद्धांतों को भी समुचित अवसर प्रदान करती है तथा नए सिद्धांतों के नवोन्मेष की अनंत संभावनाएँ उद्घाटित करती है। इस प्रकार शास्त्रार्थ अपनी दृष्टि में अत्यंत व्यावहारिक है और स्थान, काल, परिस्थितियों तथा विविध दृष्टिकोणों को समाहित करने वाला है।

केवल आध्यात्मिक और दार्शनिक विषयों पर ही नहीं, बल्कि संस्कृत व्याकरण पर भी शास्त्रार्थ किए गए हैं (त्रिपाठी, 2016, पृ. 114)। इसी प्रकार विवाह, पुनर्विवाह, विधवा-विवाह, विवाह-विच्छेद जैसे सामाजिक विषयों पर भी शास्त्रार्थ हुए हैं (पृ. 310-13)। यहाँ तक कि चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में भी शास्त्रार्थ की परंपरा मिलती है, क्योंकि आयुर्वेद के संस्थापक आचार्य चरक ने स्वयं अपने ग्रंथ चरक-संहिता में

1. अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरिक्षणम् – अभ्युपगमसिद्धान्तः। न्यायसूत्र 1.1.31 (जिस सिद्धान्त का पहले परीक्षण नहीं किया गया है, उसे केवल स्वीकार करके उसके विशेष पक्षों की परीक्षा करना – इसे अभ्युपगम सिद्धान्त कहा जाता है।)

शास्त्रार्थ के लिए एक मार्गदर्शक विधि निर्धारित की है, जिसे उन्होंने 'भेषज-वाद[1]' कहा है। उन्होंने भेषज-वाद के उदाहरण भी दिए हैं। ब्रिटिश-औपनिषदिक काल में, अंग्रेज़ी के प्रचलित होने से पूर्व, संस्कृत सदियों तक भारतीय उपमहाद्वीप में बौद्धिक संवाद तथा उच्च शिक्षा की प्रमुख भाषा थी, इसलिए शास्त्रार्थ का आयोजन मुख्यतः संस्कृत में ही होता था। हालाँकि, क्षेत्रीय भाषाओं में भी शास्त्रार्थ के प्रमाण मिलते हैं। वात्स्यायन ने अपने ग्रंथ कामसूत्र में तीन संकल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं - समाज, कथा और गोष्ठी। वे सुझाव देते हैं कि कथा और गोष्ठी समाज में या नगर के बाहर यात्रा के दौरान आयोजित की जा सकती हैं।

नागरिक को समाज में परम सम्मान प्राप्त होता है, यदि वह चर्चा (काव्य और कला पर) में न तो संस्कृत शब्दों का और न ही देशभाषा का अत्यधिक प्रयोग करता है, बल्कि संतुलित भाषा का चयन करता है। एक बुद्धिमान व्यक्ति उस सभा में नहीं सम्मिलित होना चाहिए, जिसे समाज द्वारा पसंद न किया गया हो, मनमाने ढंग से संचालित किया जाता हो और जो दूसरों के लिए हिंसात्मक हो। विद्वान व्यक्ति उस मंडल में सम्मिलित होकर संसार में सफलता प्राप्त करता है, जो समाज की मान्यताओं के अनुसार संचालित होता हो और जिसका स्वभाव मुख्यतः खेलात्मक हो (कामसूत्र, I-IV. 37-38)।

महात्मा बुद्ध और बौद्ध तथा जैन परंपराओं के विद्वानों ने भी क्षेत्रीय भाषाओं जैसे पाली और प्राकृत का प्रयोग किया। मध्यकालीन भारत में हम शास्त्रार्थ के मौखिक और लिखित प्रमाण बंगाली, मराठी, हिंदी, अरबी, अंग्रेज़ी और अन्य भाषाओं में भी पाते हैं (त्रिपाठी, 2016, पृ. 34), तथा विभिन्न धर्मों के विद्वानों जैसे हिंदू और मुस्लिम विद्वानों ने भी इसमें भाग लिया[2]। वास्तव में, शास्त्रार्थ में भाषा कभी बाधा नहीं रही, क्योंकि निर्णयक मंडल के सदस्यों को यह जिम्मेदारी दी जाती थी कि वे प्रस्तावक के वाक्य या कथन को प्रतिद्वंदी की बेहतर समझ के लिए स्पष्ट, सरल या अनूदित[3]

---

1. चरक संहिता, विमानस्थान 4.27
2. पंडितराज जगन्नाथ ने एक बार जयपुर के एक मुस्लिम विद्वान को शास्त्रार्थ के लिए आमंत्रित किया और उन्हें पराजित किया। विद्वान के रूप में उनकी ख्याति शाहजहाँ की राजसभा तक पहुँची, जिन्होंने उन्हें अपनी सभा में बुलाया और सम्मानित किया। दारा शिकोह भी उनके संपर्क में आए और अपने समय के कुछ अन्य पंडितों तथा हिंदू संतों से भी उनका वाद हुआ (त्रिपाठी, 2016, वाद इन थ्योरी ऐंड प्रैक्टिस, पृ. 136)।
3. प्रो. एच. पी. अधिकारी, निदेशक, शोध प्रकोष्ठ, डॉ० सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ने बताया कि विश्वविद्यालय में तथा काशी नगर में होने वाले शास्त्रार्थों के दौरान निर्णायक मंडल के सदस्य वादी के मत को उसके प्रतिपक्षी के समक्ष सरल संस्कृत भाषा में तीन बार स्पष्ट कराते थे और

करें। वाचस्पति मिश्र (संवत 841) ने अपने ग्रंथ (न्याय-वार्तिका-तत्पर्य-टीका) में प्रश्निक (अध्यक्ष के अतिरिक्त अन्य न्यायमंडल सदस्य) को निर्देश दिया है कि यदि प्रतिवादी किसी कथन को समझ नहीं पाता, तो उसे उसकी मातृभाषा में अनूदित किया जाए[1]।

वैदिक ज्ञान प्रणाली के विद्वानों ने वाणी की पूर्ण स्वतंत्रता (अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता) और प्रश्न करने की निर्बाध स्वतंत्रता प्रदान करते हुए ज्ञान की शुद्धि के लिए एक सुव्यवस्थित पद्धति विकसित की, जिसे शास्त्रार्थ कहा जाता है। शास्त्रार्थ ज्ञान के परिष्कार का ऐसा माध्यम था, जो अप्रमाणित तथ्यों, तर्कों और विचारों की अशुद्धियों को छानकर अलग करता था। इस प्रकार समाज के व्यापक हित में प्रामाणिक ज्ञान का प्रसार सुनिश्चित किया जाता था। यद्यपि संवाद (Dialogue) और वाद (Discussion) को शास्त्रार्थ के आदर्श रूप माना जाता था, फिर भी एक ही विषयवस्तु (पदार्थ) पर परस्पर विरोधी और प्रतिस्पर्धी विचारों में से श्रेष्ठ का निर्धारण करने के लिए जल्प (जय-पराजय के निर्धारण हेतु शास्त्रार्थ) का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार जो विचार, दर्शन, सिद्धांत आदि शास्त्रार्थ में विजयी होते थे, वही मान्य हो जाते थे और पराजित पक्ष को अगले शास्त्रार्थ तक विराम देना पड़ता था। इसकी तुलना आज के न्यायिक वाद-विवाद, विधायी वाद-विवाद तथा अमेरिका में होने वाले राष्ट्रपति पद के वाद-विवाद से की जा सकती है। जब कोई विद्वान शास्त्रार्थ में पराजित होता था, तो उसके अनुयायियों का विश्वास उससे हट जाता था। इसके साथ ही अपने मत, विचार, सिद्धांत या विचारधारा के प्रसार का उसका नैतिक अधिकार भी समाप्त माना जाता था। तथापि उसे यह पूर्ण अधिकार बना रहता था कि वह किसी भी स्थान और समय पर अगले शास्त्रार्थ के लिए अपने प्रतिद्वंद्वी को पुनः चुनौती दे सके।

आवश्यकता होने पर प्रतिपक्षी की मातृभाषा में भी स्पष्ट करते थे। यदि सभा में उपस्थित अन्य सभी सदस्य तर्क को समझ लेते हैं, परंतु प्रतिपक्षी उसका अर्थ नहीं समझ पाता, तो इसे उसकी पराजय माना जाता है। दूसरी ओर, यदि किसी वादी का तर्क निर्णायक मंडल को स्पष्ट नहीं होता, तो उसे अधिकतम तीन अवसर दिए जाते थे। यदि निर्णायक मंडल और प्रतिपक्षी दोनों ही तर्क को समझने में असफल रहते हैं, तो वादी को अर्थ-संप्रेषण में अक्षम मानकर पराजित घोषित किया जाता है। उनका कहना है कि यह पद्धति काशी में अनादि काल से चली आ रही है। यद्यपि बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक तक काशी में शास्त्रार्थ की परंपरा मृतप्राय हो गई थी।

1. S. Shukla (ed.), 2022. 'Methodology of Shastrartha', in: Social Thought in Indic Civilization, Sage, p. 248.

बीसवीं शताब्दी के मध्य तक शास्त्रार्थ भारतीय उपमहाद्वीप के शिक्षण संस्थानों में बौद्धिक संवाद, मूल्यांकन और प्रशिक्षण का एक प्रमुख माध्यम रहा। जल्प के आयोजन विद्वानों के बीच आयु, वरिष्ठता, शैक्षिक संस्थानों में पद, धार्मिक संस्थाओं से संबद्धता या राजदरबार की स्थिति से निरपेक्ष होकर किए जाते थे। निष्पक्ष राजा निर्णायक मंडल का अध्यक्ष हो सकता था, किंतु उसे हस्तक्षेप करने की अनुमति नहीं होती थी। बौद्धिक संवाद का यह स्वरूप, अर्थात् शास्त्रार्थ, राज्य के हस्तक्षेप से पूर्णतः मुक्त था। यह पद्धति विद्वानों के लिए पर्वतारोहण जैसी प्रक्रिया सुनिश्चित करती थी, जिसमें राजदरबार, आश्रम, गुरुकुल या विश्वविद्यालय में उपस्थित किसी भी विद्वान को किसी भी समय चुनौती दी जा सकती थी। यदि वह पराजित होता था, तो उसे राजा तथा अपने अनुयायियों का विश्वास और अपना स्थान खोना पड़ता था। इस व्यवस्था ने समाज का बौद्धिक और आध्यात्मिक मार्गदर्शन करने हेतु श्रेष्ठ विद्वानों के चयन का एक अंतर्निहित तंत्र प्रदान किया। साथ ही यह ज्ञान के संरक्षण, संवर्धन, सृजन और प्रसार की प्रभावी व्यवस्था भी सुनिश्चित करती थी।

औपनिवेशिक काल के दौरान बौद्धिक विमर्श का यह स्वरूप धीरे-धीरे हिंदू संन्यासियों अथवा धर्मगुरुओं के बीच होने वाले धार्मिक वाद-विवाद तक सीमित होता गया। तथापि शास्त्रार्थ की पद्धति सामाजिक विज्ञानों में समालोचनात्मक विश्लेषण हेतु एक गुणात्मक शोध-विधि के रूप में आज भी अत्यंत प्रासंगिक है। शास्त्रार्थ की विषयवस्तु में आध्यात्मिक विषय भी सम्मिलित रहे हैं, किंतु इसे केवल आध्यात्मिक विषयों तक सीमित मानना शास्त्रार्थ की पद्धति के साथ गंभीर बौद्धिक अन्याय होगा।

पाश्चात्य पंथनिरपेक्षता (Secularism) की अवधारणा के विपरीत, जिसमें विभिन्न विषयों को दो परस्पर पृथक अधिकार-क्षेत्रों–चर्च (the Church) और राज्य (the State)–में विभाजित कर दिया जाता है और दोनों को एक-दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप से रोका जाता है, शास्त्रार्थ किसी भी विषय को प्रश्न से सुरक्षित नहीं रखता। अर्थात् शास्त्रार्थ विधि में लौकिक और आध्यात्मिक–सभी विषयों (पदार्थों) पर प्रश्न किया जा सकता है। इसी कारण भारत में प्राचीन काल से विद्वानों को ईश्वर के अस्तित्व (Existence) से लेकर अनस्तित्व (Non-Existence) तक, आस्था और उपासना-पद्धति से लेकर राजनीति, सामाजिक विज्ञानों और प्राकृतिक विज्ञानों तक–प्रत्येक विषय पर निर्बाध प्रश्न करने की स्वतंत्रता प्राप्त रही है।

यद्यपि आध्यात्मिक विषयों के समावेशन के कारण शास्त्रार्थ की पद्धति जटिल हो गई है, तथापि यदि इन विषयों को पृथक कर दिया जाए, तो शास्त्रार्थ की पद्धति

अध्याय 3

मंत्र युग

प्रस्तावना

शास्त्रार्थ का इतिहास वैसा ही है जैसे भारतीय सभ्यता का इतिहास, जहाँ इतिहास को उस प्रकार से नहीं समझा जाता जैसा कि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में लिखा है। इसे उस दृष्टि से पढ़ा और पढ़ाया जाता है, जैसा आधुनिक पुरातत्त्वविद् और इतिहासकारों ने बीसवीं तथा इक्कीसवीं शताब्दी में शोध करके सत्यापित किया। अत: यह अब भी विकासशील कार्य है। बीसवीं शताब्दी में पर्याप्त पुरातात्विक और साहित्यिक प्रमाण प्राप्त हुए, जिन्होंने अनेक कथाओं को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया, जो भारतीय मानस में विश्वास के रूप में संचित थीं और औपनिवेशिक पूर्व शिक्षा प्रणाली का हिस्सा थीं, किन्तु पश्चिम में उन्हें मिथक या असत्य कथाएँ कहा गया। उदाहरणत: बीसवीं शताब्दी से पूर्व, महान मौर्य साम्राज्य भी मिथक के रूप में ही देखा जाता था, तथा भारत का राष्ट्रीय चिह्न–अशोक चक्र भी। प्रौद्योगिकी के विकास, विशेषकर भूमि–भेदन इमेजिंग तकनीकों में नवाचारों के कारण, भारतीय सभ्यता का इतिहास और भारतीय ज्ञान प्रणाली (IKS) के विविध आयाम इक्कीसवीं शताब्दी में और अधिक स्पष्ट होते जा रहे हैं।

वर्ष 1782 ईस्वी में स्थापित एशियाटिक सोसाइटी को दक्षिण एशिया में इतिहास, पुरातत्त्व, कला, विज्ञान और साहित्य के अध्ययन में एक महत्वपूर्ण चरण माना जाता है। किन्तु शास्त्रार्थ और संस्कृत साहित्य के विषयगत अध्ययन के दृष्टिकोण से 1891 में वाराणसी में स्थापित गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज[1] अधिक महत्त्वपूर्ण है। दक्षिण एशिया

1. इस संस्थान को अंग्रेज़ी में गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज के नाम से जाना जाता था। यद्यपि अंग्रेज़ी व्याकरण के नियमों के अनुसार सामान्यत: व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का अनुवाद नहीं किया जाता, तथापि कुछ अपवाद भी हैं–जैसे 'भारत' को 'इंडिया' कहा जाता है। इसी प्रकार इस महाविद्यालय के नाम का एक अनूदित रूप भी प्रचलित था–काशीराजकीय संस्कृत विद्यालय। वर्तमान में यह संस्थान वाराणसी स्थित डॉ० सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध है। (बलदेव उपाध्याय, पद्मभूषण, 1983, काशी की पाण्डित्य परम्परा, पृ. 90)

के हजारों संस्कृत महाविद्यालय, जिनमें वर्तमान भारत, बांग्लादेश, पाकिस्तान, नेपाल और म्यांमार के राजकीय संस्कृत विद्यालय भी शामिल थे, इस कॉलेज से संबद्ध थे, किन्तु इसे औपनिवेशिक सरकार द्वारा कभी विश्वविद्यालय का दर्जा नहीं दिया गया[1]। स्थापना के समय इस कॉलेज में चार संकाय थे – वेद संकाय, वेदांग संकाय, दर्शन संकाय और धर्मशास्त्र संकाय। धर्मशास्त्र संकाय लगभग आधुनिक विश्वविद्यालयों में समाज विज्ञान संकाय के समकक्ष माना जा सकता है।

वेद अध्ययन संकाय में वेद (ऋग्वेद संहिता, सामवेद संहिता, यजुर्वेद संहिता और अथर्ववेद संहिता), ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद शामिल थे। इसी प्रकार, वेदांग संकाय में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष शामिल थे, और दर्शन संकाय में न्याय दर्शन, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदांत, जैन और बौद्ध दर्शन अध्ययन का भाग थे। स्थापना के लगभग छप्पन वर्ष पश्चात्, वर्ष 1847–48 ईस्वी में एंग्लो-संस्कृत विभाग के माध्यम से महाविद्यालय के द्वार यूरोपीय ज्ञान के लिए भी खोल दिए गए।

वर्ष 1857 ईस्वी में, ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार ने भारतीय उपमहाद्वीप में यूरोपीय मॉडल पर तीन विश्वविद्यालय स्थापित किए – कलकत्ता विश्वविद्यालय, मद्रास विश्वविद्यालय और बॉम्बे विश्वविद्यालय।

इसके पश्चात्, गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज को कलकत्ता विश्वविद्यालय से संबद्ध कर दिया गया, यद्यपि इसके पूर्व संबद्ध महाविद्यालय यथावत् रहे। तीनों विश्वविद्यालयों ने यूरोपीय शिक्षा प्रणाली को अपनाया। अपनी स्थापना के समय, कलकत्ता विश्वविद्यालय में चार संकाय थे – कला, विधि, चिकित्सा और अभियांत्रिकी। कला संकाय में इतिहास, भूगोल, भाषाएँ, उर्दू, "्रेंच, ग्रीक, लैटिन, अरबी, फारसी और संस्कृत जैसे विभाग शामिल थे।

---

1. भारत की स्वतंत्रता के समय इस महाविद्यालय से भारतीय उपमहाद्वीप में लगभग 6,000 संस्कृत महाविद्यालय संबद्ध थे, जिनमें वर्तमान भारत, पाकिस्तान, नेपाल, श्रीलंका, बांग्लादेश और म्यांमार सम्मिलित थे। सन् 1958 में तत्कालीन मुख्यमंत्री सम्पूर्णानन्द के कार्यकाल में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा इसे विश्वविद्यालय का दर्जा प्रदान किया गया और इसका संस्कृत नाम 'वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय' रखा गया। वर्ष 1974 में इसका नाम परिवर्तित कर 'डॉ० सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय' कर दिया गया। यद्यपि यह एक प्रांतीय विश्वविद्यालय है, फिर भी यह भारत का एकमात्र ऐसा विश्वविद्यालय है जिसके देश के आठ राज्यों–उत्तर प्रदेश (963), राजस्थान (7), महाराष्ट्र (7), गुजरात (21), दिल्ली (13), कश्मीर (2), हिमाचल (3) तथा सिक्किम (4)–में 1,200 से अधिक संस्कृत महाविद्यालयों से संबंध हैं।। Available: https://ssvvostc.ac.in/history/

परिणामस्वरूप, गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज के समस्त संकाय और विषयों को एक संस्कृत विभाग में सम्मिलित कर दिया गया, जिसमें केवल दो शिक्षक[1] नियुक्त थे: के.एम. बनर्जी, जो षड्दर्शन संवाद (भारतीय दर्शन के छह विद्यालय) के शिक्षक थे, तथा एम.एस. दत्ता, जो मेघनादबध काव्य (संस्कृत काव्य) के शिक्षक थे। इस विभाग का दायित्व गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज के समग्र विषयों का प्रतिनिधित्व करना था।

भारतीय उपमहाद्वीप के अन्य विश्वविद्यालयों ने भी कलकत्ता विश्वविद्यालय के मॉडल का पालन किया, और यह प्रवृत्ति आज तक जारी है। कुछ अपवादों के साथ, जैसे 1916 में स्थापित बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, जिसने गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज के विषयों का प्रतिनिधित्व करने हेतु "संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय" की स्थापना की। समय के साथ, आधुनिक विषयगत दृष्टिकोण से संस्कृत ज्ञान प्रणाली में अनुसंधान ने यूरोपीय मॉडल के विश्वविद्यालयों में संस्कृत विभागों के विविधीकरण को प्रेरित किया। इन अनुसंधान प्रयासों से भारतीय अध्ययन का क्षेत्र उत्पन्न हुआ, जिसे बाद में "इंडिक स्टडीज" या "इंडोलॉजी" कहा गया। कालांतर में यही विषय हिंदी में "भारत विद्या" के नाम से विख्यात हुआ। विभिन्न आधुनिक विषयों के विद्वानों द्वारा संस्कृत साहित्य का और अधिक विश्लेषण उनके अपने विषयों के लिए महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रदान करता रहा। इसने एक आधारशिला का निर्माण किया, जिसने राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में भारतीय ज्ञान प्रणाली को सम्मिलित करने तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC) द्वारा तीन अतिरिक्त विषय–भारतीय ज्ञान प्रणाली (Indian Knowledge System), योग (Yoga) और हिन्दू अध्ययन (Hindu Studies) – की स्वीकृति को भी सहज बनाया।

सतीश चन्द्र विद्या भूषण (1870–1920) भारत के प्रथम संस्कृत-एंग्लो विद्वान थे, जिन्होंने वैदिक काल से आधुनिक काल तक भारतीय उपमहाद्वीप में विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का अनुसंधान किया। उनका शोधग्रंथ A History of Indian Logic के शीर्षक से प्रकाशित हुआ। उसके पश्चात् अनेक विद्वानों ने ऐतिहासिक या दार्शनिक दृष्टिकोण से भारतीय तर्कशास्त्र पर पुस्तकें रचीं। किन्तु वर्तमान पुस्तक – Shastrartha in India: Methodology & Applications – भारत में शास्त्रार्थ का अध्ययन संचार एवं माध्यम अध्ययन (Communication and Media Studies) की दृष्टि से करती है। स्पष्टता हेतु, शास्त्रार्थ के इतिहास को

1. The Calcutta University Calendar, 1864-5, p. 96

पाँच भिन्न युगों में विभक्त[1] किया गया है, प्रत्येक युग उस समय प्रचलित शास्त्रार्थ के प्रमुख रूप या विषय द्वारा परिभाषित किया गया है।

1. मंत्र युग (1500 ई.पू. से 600 ई.पू. तक)
2. जल्प युग (600 ई.पू. से ईस्वी संवत 1000 तक)
3. भक्ति युग (ईस्वी संवत 1000 से 1800 तक)
4. आधुनिक युग (ईस्वी संवत 1800 से आज तक)

उपरोक्त वर्गीकरण का यह तात्पर्य नहीं है कि एक युग केवल अपने पूर्ववर्ती के अंत के बाद ही आरंभ हुआ या कि प्राचीन ज्ञान समाज से समाप्त हो गया। इतिहास में कालानुक्रम और बौद्धिक इतिहास में मूलभूत अंतर होता है। इतिहास में नया राजवंश पुराने राजवंश के अवशेषों से जन्म लेता है। बौद्धिक इतिहास में ऐसा नहीं होता। यह विकास के क्रम के समान है, जहाँ विभिन्न युगों और कालों के जीव साथ-साथ जीवित रहते हैं। जैसे डायनासोर युग के कुछ पक्षी, जलचर, उभयचर और वनस्पतियाँ आज भी पृथ्वी पर मौजूद हैं। इसी प्रकार मानवता का प्राचीन ज्ञान, जैसे मंत्र युग का ज्ञान, अनेक कठिनाइयों के बावजूद आज भी अपने मूल रूप में या कुछ परिवर्तन के साथ सामाजिक और सांस्कृतिक प्रथाओं में विद्यमान है। लगभग सभी बौद्धिक युगों का यह ज्ञान इक्कीसवीं शताब्दी में भी जीवित है, यद्यपि उनके प्रभाव और क्षेत्र में भिन्नता हो सकती है।

शास्त्रार्थ का विभाजन विभिन्न युगों और कालों में मुख्यत: अध्ययन की सुविधा के लिए किया गया है और यह भारतवर्ष या दक्षिण एशिया के बौद्धिक इतिहास में उस समय प्रचलित मुख्य विचारों पर आधारित है। इसके साथ ही, निर्धारित वर्ष किसी युग या काल के स्पष्ट अंत को नहीं दर्शाते, क्योंकि कुछ साम्य और विचलन होना स्वाभाविक है। किसी भी समय-सीमा के आधार पर विद्वानों को पूरी तरह अलग-अलग समूहों में बाँटना कठिन होगा, क्योंकि कुछ व्यक्तियों का जीवन एक से अधिक कालों में फैला हो सकता है या उनके विचार अपने समय के बहुत बाद तक प्रभावशाली रह सकते हैं। अत: इस कालानुक्रमिक वर्गीकरण को सहज और उदार

1. विभिन्न शास्त्रीय ग्रंथों की तिथि-निर्धारण का प्रश्न इतिहासकारों के मध्य सतत् विमर्श का विषय बना हुआ है। तथापि, कालक्रम की स्थापना इस ग्रंथ का मुख्य उद्देश्य नहीं है। इसके अतिरिक्त, नूतन पुरातात्त्विक अन्वेषणों के कारण भारतीय सभ्यता की काल-परिधि निरंतर परिवर्तित होती रही है। इस कृति के लिए लेखक ने प्रो. राधा वल्लभ त्रिपाठी की पुस्तक 'Vada in Theory and Practice" (2016) को एक आधारभूत स्रोत के रूप में स्वीकार किया है, जो शास्त्रीय कालक्रम विषय पर नवीनतम योगदानों में से एक है।

अध्याय 4

जल्प युग

जल्प युग (लगभग 6वीं शताब्दी ईसा-पूर्व से 1000 ईस्वी तक) शास्त्रार्थ के क्षेत्र में एक औपचारिक शैक्षिक दृष्टिकोण का प्रतीक है। इसकी शुरुआत शास्त्रार्थ के लिए एक सर्वमान्य तकनीकी रूपरेखा के निर्माण से हुई, जिसके पश्चात् विभिन्न सिद्धांतों, विधियों और प्रतिमानों के विकास तथा विविधीकरण के लिए अनुकूल वातावरण निर्मित हुआ। यह काल तर्क, अन्वेषण, परीक्षण और विविध विषयों तथा अंतर्विषयी क्षेत्रों में ज्ञान-प्रतियोगिताओं की समृद्ध परंपरा प्रस्तुत करता है।

इस युग में विभिन्न दर्शनों के बीच तथा अंतर्दार्शनिक ज्ञान-प्रतियोगिताएँ प्रारम्भ हुईं, अपने उत्कर्ष पर पहुँचीं और अंततः क्षीण हुईं। विजेताओं की औपचारिक घोषणा की जाती थी और पराजित विद्वान नैतिक रूप से विजेता के दर्शन, दृष्टि या विचार का अनुसरण करने के लिए बाध्य होते थे। तर्क की प्रधानता थी। मेधातिथि गौतम द्वारा स्थापित तकनीकी प्रक्रिया के आधार पर विभिन्न विषयों और परंपराओं के आचार्यों ने मौखिक तथा लिखित, दोनों प्रकार के शास्त्रार्थ के लिए पद्धतियाँ विकसित कीं। इन पद्धतियों का उपयोग उस समय के विश्वविद्यालयों और अन्य शिक्षण संस्थानों में विद्यार्थियों के प्रशिक्षण हेतु भी किया जाता था। विभिन्न विषयों के प्रवर्तक आचार्यों के साथ-साथ उनके बौद्धिक उत्तराधिकारी भी प्रतिद्वंद्वियों पर विजय प्राप्त करने के लिए पद्धतियों और सिद्धांतों की समीक्षा, संशोधन और परिमार्जन में निरंतर संलग्न रहते थे। इस अध्याय में निम्नलिखित तीन कालों का समावेश है:

1. बुद्ध काल (528 ईसा-पूर्व से 483 ईसा-पूर्व)
2. दार्शनिक प्रतियोगिताओं का काल (लगभग 500 ईसा-पूर्व से 700 ईस्वी तक)
3. इस्लाम की स्थापना और विस्तार (ई. 700-1000)

बुद्ध काल

बुद्ध के उपदेश

विद्वानों में बुद्ध के काल (563 ईसा-पूर्व से 483 ईसा-पूर्व) के विषय में मतभेद है, परंतु लगभग सभी इस बात पर सहमत हैं कि प्रथम बौद्ध संगीति बुद्ध के निर्वाण के तुरंत बाद आयोजित की गई थी। ज्ञान की प्राप्ति के लिए राजकुमार सिद्धार्थ ने राजमहल छोड़ दिया और विद्वानों, संन्यासियों की संगति में रहने लगे। प्रारम्भ में उन्होंने तपश्चर्या का अभ्यास किया, जो उस समय संन्यास जीवन-पद्धति का एक प्रचलित अनुशासन था। इसके पश्चात् उन्होंने अपेक्षाकृत कम कठोर आत्मसंयम का मार्ग अपनाया और अंततः ज्ञान प्राप्त किया। बोध अर्थात तत्त्वज्ञान प्राप्त किया, जिसके बाद वे बुद्ध कहलाए।

बुद्ध ने लगभग पैंतीस वर्ष की आयु में, लगभग 528 ईसा-पूर्व में, वाराणसी के सारनाथ में अपना प्रथम उपदेश दिया और उसके बाद के पैंतालीस वर्ष उन्होंने मगध तथा उसके समीपवर्ती जनपदों में संवाद, वाद, और सार्वजनिक सभाओं के माध्यम से अपने विचारों का प्रसार किया। उन्होंने संसार को दुःखमय माना और निर्वाण की अपनी अवधारणा के प्रसार के लिए शास्त्रार्थ के सभी उपलब्ध रूपों का उपयोग किया।

बुद्ध ने स्वयं कोई ग्रंथ नहीं लिखा; उनका समस्त उपदेश मौखिक परंपरा में ही था (Ambedkar, 1957 और Hiriyanna, 1994, च. 134)। बौद्ध दर्शन से संबंधित समस्त साहित्य उनके अनुयायियों द्वारा संकलित किया गया है। इस दृष्टि से बौद्ध साहित्य उपनिषदों की पाठ्य-प्रस्तुति की परंपरा का अनुसरण करता है।

बुद्ध ने अपने अनुयायियों के साथ मुख्यतः वाद रूप में शास्त्रार्थ किया, यद्यपि विरोध करने वाले विद्वानों के साथ जल्प के भी उदाहरण मिलते हैं। तथापि उन्होंने सदा तत्त्वमीमांसा से संबंधित चौदह प्रश्नों का कभी प्रत्युत्तर नहीं दिया, जिन्हें बौद्ध साहित्य में 'अव्यक्त' या 'अव्याकृत' प्रश्न कहा गया है। ये प्रश्न उनके समकालीन प्रतिद्वन्द्वी आचार्यों और विद्वानों द्वारा उनसे पूछे गए थे। इन प्रश्नों के कम से कम दो भिन्न रूप भी प्राप्त होते हैं, जिनमें अल्प अंतर है। न्यायशास्त्र के आचार्य अव्याकृत प्रश्नों की सूची इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं:

1. क्या जगत् नित्य (eternal) है?
2. क्या जगत् अनित्य (non-eternal) है?

3. क्या वह दोनों है?
4. क्या वह न नित्य है और न अनित्य?
5. क्या जगत् सीमित है?
6. क्या जगत् असीमित है?
7. क्या वह दोनों है?
8. क्या जगत् न सीमित है और न असीमित?
9. क्या आत्मा शरीर के समान है?
10. क्या आत्मा शरीर से भिन्न है?
11. क्या तथागत (बुद्ध) मृत्यु के पश्चात् अस्तित्व में रहते हैं?
12. क्या तथागत मृत्यु के पश्चात् अस्तित्व में नहीं रहते?
13. क्या वे रहते भी हैं और नहीं भी रहते?
14. क्या वे न रहते हैं और न ही नहीं रहते?

बौद्ध विद्वान इन प्रश्नों को इस प्रकार प्रस्तुत करते[1] हैं:

1. मैं क्या हूँ?
2. मैं कैसा हूँ?
3. क्या मैं हूँ?
4. क्या मैं नहीं हूँ?
5. क्या मैं अतीत में था?
6. क्या मैं अतीत में नहीं था?
7. अतीत में मैं क्या था?
8. अतीत में मैं कैसा था?
9. अतीत में मैं क्या होकर क्या बना?
10. क्या मैं भविष्य में रहूँगा?
11. क्या मैं भविष्य में नहीं रहूँगा?

---

1. W. Shrader Douglas (2007). *Between Self and No-Self: Lessons from the Majjihima Nikaya*. Presented at the annual meeting of ASPAC (Asian Studies on the Pacific Coast), hosted by the East-West Center, Honolulu, HI, 15-17 June 2007. (http://citeseerx.ist.psu.edu/viewdoc/download\doiṛ10.1.1.462.1435-repṛrep1-typerpdf).

12. भविष्य में मैं क्या होऊँगा?
13. भविष्य में मैं कैसा होऊँगा?
14. मैं क्या होकर भविष्य में क्या बनूँगा?
15. यह व्यक्ति कहाँ से आया है?
16. यह कहाँ जाएगा?

'अव्यक्त प्रश्न' यह तर्कसंगत आधार प्रदान करते हैं कि बुद्ध दार्शनिक चिंतन के आध्यात्मिक (तत्त्वमीमांसीय) पक्ष–जैसे सर्वशक्तिमान (ईश्वर) की अवधारणा, आत्मा, स्वर्ग या नरक तथा पुनर्जन्म–में विशेष रुचि नहीं रखते थे। उन्होंने न वैदिक ज्ञान-प्रणाली की इन आध्यात्मिक अवधारणाओं को स्वीकार किया, न उनका निषेध किया; इन विषयों पर वे तटस्थ रहे।

वे इन दार्शनिक पक्षों से स्वयं को अलग रखते हुए उन सामाजिक समस्याओं के समाधान पर केंद्रित रहे, जो कर्मकाण्डों पर अत्यधिक बल देने से उत्पन्न हुई थीं। ऐसे प्रश्नों पर उनका मौन तीन प्रकार से व्याख्यायित किया जा सकता है– (क) पूर्ववर्ती मत (वैदिक ज्ञान-प्रणाली) का अनुमोदन (मौनं स्वीकृतिलक्षणम्), (ख) पूर्ववर्ती मत का खण्डन न करना, और (ग) पूर्ववर्ती मत का अनुमोदन न करना।

बुद्ध के उपदेश, जिन्हें प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन या धम्म कहा जाता है, मुख्यत: उपनिषदों और मीमांसा से प्रभावित माने जाते हैं (Hiriyanna, 1994, pp. 130–135)। कालान्तर में बौद्ध दर्शन के अधिकांश अनुयायियों ने तीसरे विकल्प–पूर्ववर्ती मत का अनुमोदन न करना–को अपनाया और उसी आधार पर बौद्ध दर्शन का विकास किया। बुद्ध के निर्वाण के कई वर्ष बाद बौद्ध दर्शन का विस्तार हुआ और वह भिन्न-भिन्न दार्शनिक परम्पराओं में विकसित हुआ।

चाणक्य के समय तक, जो स्वयं वैदिक ज्ञान-प्रणाली के प्रकाण्ड विद्वान, दार्शनिक, दृढ़ राष्ट्रनिष्ठ तथा सुदृढ़ सेना और सशक्त कूटनीति के समर्थक थे, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं के बीच किसी प्रत्यक्ष संघर्ष का उल्लेख नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि जब बौद्ध परम्परा ने अत्यधिक उग्र दृष्टिकोण अपनाया, तब वैदिक परम्परा के आचार्यों ने प्रतिवाद के रूप में उसे 'नास्तिक दर्शन[1]' (वेद-विरुद्ध) की श्रेणी में रखा। उस समय 'ईश्वर-विश्वासी' और 'ईश्वर-अविश्वासी' जैसे यूरोपीय वर्गीकरण प्रचलित नहीं थे, कम से कम भारतीय उपमहाद्वीप में तो नहीं।

---

1. Eric Reinders (2005). *Anthropology and Aesthetics,* Francesco Pellizzi (ed.), vol. 48, Harvard University Press, pp. 61-3.

अध्याय 5

भक्ति युग

भक्ति आंदोलन

भक्ति युग (ई. 1000–1800) जल्प युग और आधुनिक युग के बीच एक सेतु के रूप में देखा जाता है। इस काल में बौद्ध दर्शन इस्लामी दर्शन की चुनौतियों के सम्मुख टिक नहीं पाया और पूर्वी यूरोप, अरब क्षेत्रों तथा दक्षिण एशिया के अनेक प्रमुख भागों से उसका लोप हो गया। इसके साथ ही, वैदिक परंपरा में आदि शंकराचार्य तथा मंडन मिश्र, कुमारिल भट्ट, उदयन आदि आचार्यों के नेतृत्व में हुए पुनरुत्थान ने जल्प के माध्यम से बौद्ध दर्शन की त्रुटियों का खंडन किया, बौद्ध आचार्यों को शास्त्रार्थों में पराजित किया और बौद्ध अनुयायियों को पुनः सनातन धर्म/ वैदिक धर्म में लौटाने के लिए व्यापक अभियान चलाए।

इसके अतिरिक्त, जैसा पहले बताया गया है, आदि शंकराचार्य ने सनातन धर्म के अनुयायियों को अनुशासन में बनाए रखने के लिए अनेक व्यवस्थाएँ विकसित कीं और धर्म की रक्षा के लिए आक्रमणकारियों के विरुद्ध संघर्ष हेतु नागा संन्यासियों (संन्यासी सेना) की परंपरा का भी प्रवर्तन किया। इस प्रकार दक्षिण एशिया में वैदिक धर्म अथवा सनातन धर्म का इस्लामी आक्रमणकारियों के साथ प्रत्यक्ष सामना हुआ। भक्ति आंदोलन ने दो प्रमुख लक्ष्य साधे– (क) अनुयायियों में अपने-अपने देवता या गुरु (दर्शनकार, मार्गदर्शक, आचार्य) के प्रति अटूट श्रद्धा और भक्ति का विकास, जिससे समुदाय की एकता सुदृढ़ हुई, और (ख) श्रद्धा अथवा धर्म के लिए त्याग और सर्वोच्च बलिदान की भावना का विकास। बाद में इन्हीं तत्त्वों के आधार पर निजी सैन्य दलों का गठन किया गया, ताकि मंदिरों और जनसमुदाय (हिंदुओं) की रक्षा की जा सके।

इस प्रकार, इस युग के प्रमुख दर्शनकारों और संतों ने भक्ति को परम सुख, मुक्ति अथवा मोक्ष की प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग घोषित किया। उल्लेखनीय है कि

न्यायसूत्र के प्रथम सूत्र में ही 'ज्ञान' को निःश्रेयस अथवा मोक्ष की प्राप्ति का श्रेष्ठ मार्ग बताया गया है। उस समय आक्रमणकारी निरंतर आक्रमण कर मंदिरों और शिक्षण संस्थानों–गुरुकुलों तथा विश्वविद्यालयों–को नष्ट कर रहे थे, इसलिए इस युग के दर्शनकारों, संतों और विद्वानों ने जनविश्वास बनाए रखने और संकट की घड़ी में समाज को एक सूत्र में बाँधने के लिए देशज भाषाओं का आश्रय लिया। इसके परिणामस्वरूप रचनाओं (लेखन और प्रवचन) में पंजाबी, गुजराती, अवधी, बंगाली, मागधी, उड़िया आदि अनेक क्षेत्रीय भाषाओं का उत्कर्ष दिखाई देता है, जबकि मानकीकृत शास्त्रीय संस्कृत को कुछ समय के लिए पीछे रखा गया। उस समय की आवश्यकता के अनुसार यह नवोन्मेष जनविश्वास बनाए रखने का अत्यंत उपयुक्त उपाय सिद्ध हुआ।

इस्लामी दर्शन के प्रसार के लिए चलाए गए सशस्त्र अभियानों ने वास्तव में पूर्वी यूरोप, पश्चिम एशिया, मध्य एशिया तथा भारतीय क्षेत्र अर्थात दक्षिण एशिया में बौद्ध धम्म को लगभग अस्तित्वहीन कर दिया। आक्रमणकारियों ने उन रियासतों को खंड-खंड कर दिया जो विद्वानों का संरक्षण करती थीं। साथ ही तक्षशिला विश्वविद्यालय, नालंदा विश्वविद्यालय, विक्रमशिला विश्वविद्यालय सहित अनेक गुरुकुलों, आश्रमों और मंदिरों–जो शिक्षा के केंद्र थे–को भी नष्ट कर दिया गया। परिणामस्वरूप उत्तर भारतीय क्षेत्र में बौद्धिक संवाद के लिए अनुकूल परिस्थिति नहीं रही, जबकि दक्षिण का क्षेत्र तुलनात्मक रूप से शांत बना रहा।

भक्ति आंदोलन की उत्पत्ति प्रथम सहस्राब्दी ईस्वी में तमिलनाडु के नयनार (शैव) और आलवार (वैष्णव) संतों के बौद्धिक आंदोलन से मानी जाती है। किन्तु द्वितीय सहस्राब्दी ईस्वी में यह विभिन्न क्षेत्रों में व्यापक रूप से प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुआ। रामानुज अथवा रामानुजाचार्य (ई. 1017–1137), जिनका जन्म चोल राज्य (तमिलनाडु में चेन्नै के निकट) में हुआ था, एक दार्शनिक और सामाजिक सुधारक के रूप में विख्यात हुए। मुक्ति के भक्ति मार्ग पर उनके सिद्धांत को भक्ति आंदोलन की दार्शनिक आधारशिला माना जाता है। उन्होंने वेदांत दर्शन के अंतर्गत एक नई दार्शनिक विचारधारा –विशिष्टाद्वैत[1]–की स्थापना की, जो अद्वैत और द्वैत दोनों परंपराओं के गुणों का समन्वय करने का प्रयास करती है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार ईश्वर (ब्रह्म) एक ही हैं, किन्तु उनके भीतर जीव (आत्मा) और जगत (प्रकृति) के रूप में विविधता निहित है। ब्रह्म सगुण है और यह विश्व मिथ्या नहीं, बल्कि ब्रह्म का ही स्वरूप है। यह मत ईश्वर को सगुण (विशेषतः विष्णु

1. Bruce M. Sullivan (2001). *The A to Z of Hinduism,* Rowman & Littlefield (UK), p. 239

रूप) तथा निर्गुण, दोनों रूपों में स्वीकार करता है। यह दर्शन इस बात पर बल देता है कि सभी आत्माओं की एकता है, और व्यक्तिगत आत्मा में परमात्मा का साक्षात्कार करने तथा उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता निहित है। उनकी सहस्त्रवीं (1,000) जयंती पर हैदराबाद अंतरराष्ट्रीय विमानक्षेत्र के निकट समता-केंद्र में उनकी 216 फुट ऊँची आसनस्थ प्रतिमा 'स्टैच्यू ऑफ इक्वालिटी' की स्थापना[1] की गई।

उनके विचारों ने भक्ति आंदोलन की आधारभूमि तैयार की, जिसने दक्षिण एशिया में अनेक भक्त कवियों को प्रेरित किया। इनमें रामानंद (ई. 1300-80), वल्लभाचार्य (ई. 1479-1531), चैतन्य (ई. 1486-1534), तुकाराम (ई. 1608-50), तुलसीदास (ई. 1532-1623), कबीर (ई. 1440-1518), नानक (ई. 1469-1539), मीराबाई (ई. 1498-1547), सूरदास (ई. 1478-1583), नरसिंह मेहता (ई. 1414-81) आदि प्रमुख हैं। इन सभी ने जनमानस में सकारात्मक दृष्टि और जीवन के प्रति आशा का भाव जाग्रत करने के लिए अनेक नवोन्मेष किए।

यद्यपि वे परम सत्ता के भिन्न-भिन्न स्वरूपों और आदर्शों का अनुसरण करते थे, तथापि उनमें एक समानता थी-सभी ने जनसामान्य तक पहुँचने के लिए देशज भाषाओं में काव्य रचना की। यह जल्प युग की उस परंपरा से भिन्न था, जिसमें बौद्धिक संवाद की मुख्य भाषा संस्कृत थी। तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि वे संस्कृत से अपरिचित थे; उनमें से अनेक संतों ने संस्कृत के साथ-साथ क्षेत्रीय भाषाओं में भी रचनाएँ कीं।

भक्ति काल के दार्शनिक सर्वशक्तिमान के निराकार और साकार-दोनों रूपों का, भिन्न-भिन्न परंपराओं के अनुसार उपासना करते थे। निराकार परमात्मा के अनुयायी, जैसे गुरु नानक और कबीर, मूर्ति-पूजा का समर्थन नहीं करते थे, किन्तु निराकार परमात्मा की उनकी धारणाओं में भिन्नता थी। नानक ने निराकार ब्रह्म (निर्गुण ईश्वर) को मुख्य रूप से 'एक ओंकार' कहा, जबकि कबीर ने उसे 'राम' कहा; परंतु कबीर का 'राम' तुलसीदास के 'राम' से भिन्न है। कबीर ने मूर्ति-पूजा तथा इस्लामी दर्शन की कट्टर प्रवृत्तियों की खुलकर आलोचना की, जबकि नानक और उनके उत्तराधिकारी अन्य परंपराओं की आलोचना के प्रति उतने मुखर नहीं रहे। तुलसीदास विवाहित थे, किन्तु उन्होंने गृहस्थ जीवन का परित्याग किया; जबकि गुरु नानक और कबीर

1. Deccan Herald (2022). 'Rs 135 crore Statue of Equality inaugurated by PM Modi in Hyderabad was made in China.' February 05 (https://www.deccanherald.com/national/south/rs-135-crore-statue-of-equality-inaugurated-by-pm-modi-in-hyderabad-was-made-in-china-1078409-html).

दोनों ने गृहस्थ जीवन अपनाया। भक्ति युग की यह प्रवृत्ति आदि शंकराचार्य की उस परंपरा से कुछ भिन्न प्रतीत होती है, जिसमें संन्यास या ब्रह्मचर्य को संत बनने के लिए आवश्यक माना गया था।

गुरु नानक द्वारा गृहस्थ आश्रम के महत्व पर दिया गया बल आज भी सिख पंथ में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। सिख गुरु गृहस्थ थे और उनकी संतति भी थी; सिख गुरु और ग्रंथी भी प्रायः गृहस्थ होते हैं। आदि शंकराचार्य के आध्यात्मिक केंद्र (पीठ) जहाँ आध्यात्मिक उत्तराधिकारियों के लिए आरक्षित थे, वहीं गुरु नानक ने ऐसी व्यवस्था स्थापित की जिसमें वंशानुक्रम और आध्यात्मिक परंपरा का समन्वय हुआ। अन्य संतों की परंपरा मुख्यतः भक्ति तक सीमित रही, किन्तु गुरु नानक की परंपरा कालांतर में सामाजिक और राजनीतिक आयामों तक विस्तृत हुई और सशस्त्र इस्लामी आक्रमणों के विरुद्ध एक सुदृढ़ शक्ति के रूप में उभरी। गुरु नानक के धार्मिक अनुशासन में गृहस्थों की सहभागिता को व्यापक जनसमर्थन मिला और वह आज भी सजीव है। तथापि इस नवोन्मेष को सनातन धर्म के मूल सिद्धांतों से विचलन नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि मंत्र युग में भी अनेक ऋषि गृहस्थ थे और कुछ, जैसे याज्ञवल्क्य की एक से अधिक पत्नियाँ थीं।

सिख पंथ के दशम और अंतिम गुरु, श्री गुरु गोविंद सिंह ने सिख पंथ को सैन्य संगठनात्मक रूप दिया और साथ ही अपने संप्रदाय को सुदृढ़ बनाने पर भी विशेष बल दिया। कबीर पंथ और सिख पंथ–दोनों में गुरु की सर्वोच्चता पर बल दिया गया है और उनकी सामाजिक–धार्मिक– सांस्कृतिक व्यवस्था इसी मूल सिद्धांत के चारों ओर निर्मित है। इस प्रकार, सिख पंथ में गुरु के प्रति भक्ति, समर्पण और सम्मान अन्य भक्ति परंपराओं में देवता या ब्रह्म के प्रति की जाने वाली उपासना से किसी प्रकार कम नहीं है।

संचार के दृष्टिकोण से यह काल शास्त्रार्थ की पद्धति में एक तीव्र परिवर्तन लेकर आया, जिसमें ध्यान सीमित बुद्धिजीवी वर्ग से हटकर सामान्य जनसमुदाय की ओर गया; अर्थात् समूह संचार से जनसंचार की ओर परिवर्तन हुआ। इस युग के दार्शनिकों/आचार्यों ने ज्ञान को अत्यंत सरल, सुबोध तथा काव्यात्मक रूप में अपनी–अपनी प्रादेशिक भाषाओं में प्रस्तुत किया। इस प्रकार उनके आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक विचारों का जनसामान्य में प्रचार–प्रसार हुआ।

इस प्रवृत्ति को भक्ति आंदोलन कहा जाता है, जिसके गुण आधुनिक विद्वानों द्वारा वर्णित उत्तर–आधुनिक सिद्धांतों (Post Modern Theories) से अत्यंत निकटता

अध्याय 6

आधुनिक युग

आधुनिकता अपने बहुआयामी स्वरूप के कारण अत्यंत जटिल संकल्पना है। अत: इसकी परिभाषा निर्धारित करना एक श्रमसाध्य कार्य रहा है। तथापि, विभिन्न विद्वानों ने आधुनिकता के निम्नलिखित लक्षण बताए हैं:

1. औद्योगीकरण और नगरीकरण,
2. विकास,
3. जनतंत्र,
4. पूंजीवाद,
5. शक्ति की श्रेष्ठता,
6. मुक्त बाज़ार अर्थव्यवस्था,
7. आशावाद,
8. विज्ञान, प्रौद्योगिकी, समाज और राजनीति में परम ज्ञान की खोज,
9. यह विचार कि सत्य आत्मा के ज्ञान की प्राप्ति ही अन्य समस्त ज्ञान का एकमात्र आधार है, और
10. तार्किकता

यद्यपि आधुनिकता की यूरोकेन्द्रित संकल्पना अपने प्रारंभ से ही भारत में बौद्धिक चुनौतियों का सामना करती रही है। उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के विद्वानों ने इसी संकल्पना की वैधता को 'क्वीन की भाषा' में ही चुनौती दी। प्रख्यात भारतीय समाजशास्त्री डी. पी. मुखर्जी (1894-1961) ने आधुनिकता की पाश्चात्य संकल्पना के विरुद्ध सशक्त स्वर उठाया और उसे 'त्रुटिपूर्ण' कहा। मुखर्जी ने कहा, 'भारत की बौद्धिक और कलात्मक उपलब्धियाँ किसी भी प्रकार से पाश्चात्य उपलब्धियों से कमतर नहीं हैं। अत: वेदान्त, पाश्चात्य मुक्तिवाद और मार्क्सवाद के समन्वय की आवश्यकता है।' प्रो. एस. एल. दोशी, जो दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू

विश्वविद्यालय के प्रो. योगेन्द्र सिंह के शिष्य हैं, ने एक नए संप्रदाय–'कट्टरपंथी मार्क्सवाद' (Dogmatic Marxism)–की खोज की है। वे लिखते हैं, 'भारत का पूर्ववर्ती उपनिवेशिक-सामंतवादी समाज अब निगमित पूंजीवादी समाज बन गया है। भारतीय समाज के इस नूतन स्वरूप का अध्ययन उन महावृत्तांतों (Metanarratives or big theories like Marxism) से नहीं किया जा सकता जो हमारे संग्रह में उपलब्ध हैं। वर्तमान कृति में हमने प्रतिपादित किया है कि भारतीय समाजशास्त्र क्रियात्मक समाजशास्त्र है और इस दृष्टि से प्रत्येक भारतीय समाजशास्त्री क्रियात्मक समाजशास्त्री है। इस कथन में कुछ संघर्ष सिद्धांत के अनुयायी अपवाद हैं, जो आज भी रूढ़िगत मार्क्सवाद का अनुसरण करते हैं' (दोशी, 2003, पृ. 0-0प)। लगभग सभी अनुशासनों/ विषयों (disciplines) के भारतीय आचार्यों और विद्वानों ने आधुनिकता की व्याख्या दो प्रमुख दृष्टिकोणों–द्वंद्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialsim) और संरचनात्मक-क्रियात्मक (Structural Functionalism) के आधार पर की है। तथापि, लगभग सभी ने एकमत से 'यूरोपीय प्रबोधन' (European Enlightenment) के सिद्धांतों को आधुनिकता का संदर्भ बिंदु स्वीकार किया है। आधुनिकता का यह स्वरूप, जिसके लगभग सभी सकारात्मक पक्षों पर यूरोप का अधिकारचिह्न अंकित था, कथित रूप से यूरोप में एक ऐसे नए वर्ग के उद्भव का प्रमुख कारण बना जिसने उपनिवेशवाद के उद्देश्य को विश्वभर में अभियान रूप में आगे बढ़ाया।

भारत में लगभग सभी अनुशासनों/ विषयों के आचार्य और बुद्धिजीवी 1857 को आधुनिक शिक्षा के आरंभ का काल मानते हैं, जिसके पीछे मुख्यत: दो ऐतिहासिक घटनाएँ थीं – पहली, भारतीय उपमहाद्वीप में यूरोपीय प्रतिमान पर आधारित तीन विश्वविद्यालयों की स्थापना–कलकत्ता (24 जनवरी 1857), बंबई (18 जुलाई 1857) और मद्रास (5 सितंबर 1857); और दूसरी, 1857 के भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की समाप्ति के तुरंत बाद ईस्ट इंडिया कंपनी से ब्रिटिश राजसत्ता अथवा क्राउन को राजनीतिक सत्ता का हस्तांतरण। यहाँ भारत में 'आधुनिक युग' को निम्न प्रकार विभाजित किया गया है:

1. अनुवाद काल (1780–1900)
2. आधुनिक शिक्षा काल (1857 से आगे)

अनुवाद काल (1780-1900s)

इस अवधि में भारतीय उपमहाद्वीप में उपलब्ध लगभग प्रत्येक ग्रंथ का अनुवाद अंग्रेज़ी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं–जैसे फ्रांसीसी, जर्मन, डैनिश और इतालवी–में

किया गया। इस युग का आरंभ विलियम जोन्स की प्राच्य-अनुसंधान में रुचि से चिह्नित होता है, जो मैक्स मूलर (1823-1900) के बाद भी उसी गति से जारी रहा।

संस्कृत के अतिरिक्त अरबी और फ़ारसी पांडुलिपियों की भी खोज की गई और उनका अनुवाद किया गया। केवल ब्रिटेन ही नहीं, बल्कि फ्रांस, पुर्तगाल, स्पेन, जर्मनी आदि लगभग सभी यूरोपीय देशों के विद्वान भारत आए, संस्कृत सीखी, पांडुलिपियों की खोज की और उन्हें संकलित कर यूरोपीय भाषाओं में अनूदित किया। यद्यपि मैक्स मूलर (1823-1900) के बाद अनुवाद अभियान कुछ धीमा पड़ता प्रतीत होता है, फिर भी भारत की हस्तलिखित पांडुलिपियों में यूरोपीय शोधकर्ताओं और विद्वानों की रुचि आज भी बनी हुई है। 7 मार्च 2018 को वाराणसी स्थित काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय की मेरी यात्रा के दौरान, मैं हुआ जब एक एक यूरोपीय महिला शोधकर्ता को संस्कृत की एक हस्तलिखित पांडुलिपि के चित्र लेने से रोक रहा था। उसका तर्क था कि अप्रकाशित हस्तलिखित पांडुलिपि केवल पढ़ने के लिए दी जाती है, जबकि फोटोकॉपी करना या चित्र लेना अनुमत नहीं है। उसने उसे कार्य रोकने के लिए कहा और संबंधित कार्यालय में ले गया। लंबी चर्चा के बाद वह अध्ययन करने और नोट्स बनाने पर सहमत हुई।

काशीराजकीय संस्कृत विद्यालय (Government Sanskrit College), वाराणसी

वाराणसी में सन् 1791 में गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज की स्थापना एक महत्वपूर्ण चरण था, जिसने यूरोप और भारत के बीच बौद्धिक संवाद के लिए एक सशक्त मंच प्रदान किया। इस संस्कृत विद्यालय की स्थापना के लिए तत्कालीन काशी नरेश महाराजा महीप नारायण सिंह ने उदारतापूर्वक योगदान दिया। उन्होंने विद्यालय हेतु भूमि प्रदान करने के साथ ही मिर्जापुर जिले के सतासी परगना का राजस्व भी विद्यालय के संचालन व्यय के लिए दान में दिया, जिससे संस्था के सुचारु संचालन और विद्या-प्रसार को स्थायित्व मिल सका (पंडित बलदेव उपाध्याय, पृ. 90-111)।

यद्यपि यह एक महाविद्यालय (Degree College) था, फिर भी दक्षिण एशिया के विभिन्न नरेशों तथा स्वैच्छिक शिक्षण संस्थानों द्वारा स्थापित अनेक संस्कृत विद्यालय (Degree Colleges) सन् 1947 तक इससे संबद्ध रहे। गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज को शास्त्रार्थ के रूप में 'जल्प मॉडल' को प्रचलित करने का श्रेय भी दिया

जाता है, क्योंकि इसे बौद्धिक संवाद और मूल्यांकन की विधि के रूप में इसके पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया था। कॉलेज में प्रति सप्ताह शास्त्रार्थ का आयोजन होता था, जिसमें आचार्य और छात्र सहभागिता करते थे, और विजेताओं का सम्मान तथा पुरस्कार प्रदान किया जाता था। यह बौद्धिक संवाद की पद्धति वाराणसी तथा अन्य स्थानों के प्रतिष्ठित संस्कृत विद्यालयों में भी अपनाई गई। समय के साथ शास्त्रार्थ शब्द जल्प का पर्याय बन गया; यहाँ तक कि पूर्वकाल में शंकराचार्य और मंडन मिश्र के बीच हुए जल्प को भी अब शास्त्रार्थ कहा जाने लगा।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के अल्मनैक 1864-65 में गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज के लिए प्रति मास 663 रुपये छात्रवृत्ति के रूप में प्रदान किए जाने का उल्लेख मिलता है, जो तीन वर्गों के विद्यार्थियों के लिए था–अंग्रेजी साहित्य के लिए 365 रुपये, एंग्लो-संस्कृत के लिए 185 रुपये और संस्कृत के लिए 113 रुपये। इससे स्पष्ट होता है कि संस्कृत के विद्यार्थियों के प्रति भेदभाव किया गया और अंग्रेजी तथा एंग्लो-संस्कृत का चयन करने वालों को प्राथमिकता दी गई। आगे, इस अभिलेख में यह भी उल्लेख है कि कम्पनी ने प्रेसीडेंसी कॉलेज, कलकत्ता की स्थापना के लिए प्रति मास 7,640 रुपये स्वीकृत किए थे, परन्तु गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज, वाराणसी के लिए किसी प्रकार के वित्तीय अनुदान का उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि उपनिवेशिक शासन ने कलकत्ता मदरसा को पूर्णत: वित्तपोषित किया था और वह गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज को भी वित्तपोषित करना चाहता था, किन्तु उस समय काशी के आचार्यों ने इसे अपनी बौद्धिक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप माना। फलत: उपनिवेशिक शासन ने उन्हें पूर्ण बौद्धिक स्वतंत्रता देने और दक्षिणा प्रदान करने पर सहमति दी, जो वैदिक परंपरा के अनुसार सम्मानपूर्वक प्रदान की जाने वाली धनराशि होती है, जिसका परिमाण (राशि) पूर्वनिर्धारित नहीं होता और न ही ग्रहण करने वाले को पूर्व से ज्ञात होता है।

क्या काशी के पंडितों ने आर्थिक सहायता अस्वीकार करके और पूर्ण स्वायत्तता की मांग करके कोई त्रुटि की? इस विषय पर लंबी चर्चा हो सकती है, किन्तु यहाँ कुछ तथ्य प्रस्तुत हैं। सन् 1791 में उपनिवेशिक शासन ने कलकत्ता मदरसा (Calcutta Mohammedan College) के प्रथम प्रमुख / प्राचार्य को कुप्रबंधन के आरोप में पद से हटा दिया और मुहम्मद इस्माइल को नया प्रमुख / प्राचार्य नियुक्त किया। सन् 1819 में कैप्टन एरोन (Captain Ayron) को कलकत्ता मदरसा का सचिव नियुक्त किया गया और समस्त प्रशासनिक अधिकार उसी में निहित कर दिए गए। इस प्रकार यह कलकत्ता मदरसा पूर्णत: उपनिवेशिक शासन के नियंत्रण में रहा, जब तक कि

अध्याय 7

सुदृढ़ तर्कवाक्यों का निर्माण

प्रस्तावना

आपका मित्र आपसे मिलने आया है। आप उसे चाय परोसते हैं और पूछते हैं, "क्या मिठास ठीक है?" यहाँ आपको चाय का सामान्य स्वरूप ज्ञात है, किन्तु आप उसके विशेष स्वरूप को जानना चाहते हैं–मिठास कम है, उपयुक्त है या अधिक। मिठास 'ठीक' है या 'ठीक नहीं'? जब से आपने चाय में चीनी डाली, उसी क्षण से लेकर मित्र के उत्तर देने तक आपका मन इन दो वैकल्पिक संभावनाओं के बीच डोलता रहता है। अपने ज्ञान के अनुसार आपने उचित मात्रा में चीनी डाली है, इसलिए "मिठास ठीक होनी चाहिए" यह मत आपके मन में प्रधान रहता है, किन्तु आप निश्चित नहीं होते। पदार्थ के स्वरूप के विषय में, जो आपके अध्ययन का विषय है, इन दो समान रूप से प्रबल प्रतीत होने वाली संभावनाओं के बीच अनिश्चित रहने की यह अवस्था ही अनुसंधानकर्ता के मन में "संशय" कहलाती है।

मित्र चाय का स्वाद लेता है। इस प्रकार उसे "प्रत्यक्ष" के माध्यम से प्रमाण प्राप्त होता है, अर्थात् जिह्वा की रसना का चाय के साथ संयोग होता है, और वह आपसे कहता है–"मिठास ठीक है।" यह शब्द आपके लिए "प्रमाण" बनता है, जो आपके पूर्व अनुमान–"मिठास ठीक होनी चाहिए"–को दृढ़ करता है और विपरीत विकल्प–"मिठास ठीक नहीं है"–का निरसन करता है। यह विचार-विमर्श आपको चाय में चीनी की उपयुक्तता के विषय में निष्कर्ष निकालने में सहायक होता है, अर्थात् मिठास वास्तव में ठीक है। यह हमारे दैनिक जीवन का एक अत्यन्त सामान्य और अनौपचारिक प्रसंग (Example) है, जहाँ घटनाएँ शीघ्र क्रम में घटित होती हैं। अब मैं इस अवधारणा को एक थोड़े अधिक जटिल प्रसंग के माध्यम से आगे विकसित कर रहा हूँ।

अन्वेषण की प्रक्रिया (Process of Inquiry)

आपने एक पहाड़ी से धुआँ निकलते देखा। धुआँ देखते ही आपने अनुमान किया–वहाँ अग्नि हो सकती है। इस प्रसंग में आपकी आँखों ने आपको धुएँ का दृश्य प्रत्यक्ष रूप से प्रदान किया, जो एक प्रकार का प्रमाण ही है। यह आपका प्रथम प्रभाव है। क्या पहाड़ी पर अग्नि है या नहीं? यह सन्देह आपके मन में उत्पन्न होता है। यहाँ आप धुएँ के विषय में जानते हैं, किन्तु उसके कारण के विषय में निश्चित नहीं हैं। इस प्रसंग में धुआँ "धर्म" (गुण) है और जिस पहाड़ी पर धुआँ दिखाई दे रहा है वह "धर्मी" (गुणधारी) है। 'वहाँ वास्तव में अग्नि है' यह निश्चित रूप से कहने के लिए आपको धुएँ और पहाड़ी के बीच अविवादित सम्बन्ध स्थापित करना होगा।

तुरन्त ही आपके मन में एक चिर-परिचित घटना स्मरण होती है–रसोई से धुआँ तभी निकलता है जब वहाँ अग्नि होती है–जो समाज के विभिन्न वर्गों (विद्वान और सामान्य) में सर्वस्वीकृत दृष्टान्त (instance) है और धुएँ का अग्नि से सम्बन्ध स्थापित करता है। इस रसोई के दृष्टान्त में धुआँ अग्नि का "लिङ्ग" (चिह्न) सिद्ध हो चुका है, और जिस अग्नि में ऐसा धुएँ का लिङ्ग स्थापित है, वह धुएँ की "लिङ्गी" कहलाती है। आपने इन दोनों घटनाओं–पहाड़ी पर धुआँ और रसोई में धुआँ–के बीच अविवादित समानता को पहचाना; इसे "व्याप्ति" कहा जाता है। अब आप "उपमान" के लिए रसोई को "उदाहरण" रूप में ग्रहण करते हैं–"जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोई में।" आपने पुनः दोनों धुओं की समानता का परीक्षण किया। अब आप इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं–वहाँ निश्चय ही अग्नि है।

किसी विषयवस्तु के तत्त्व, अर्थात् उसके वास्तविक स्वरूप, के विषय में सन्देह से लेकर निष्कर्ष तक होने वाला यह सम्पूर्ण विचार-विमर्श "अन्वेषण/अनुसन्धान की प्रक्रिया" कहलाता है। विषयवस्तु के वास्तविक स्वरूप के विषय में यह अनुसन्धान, प्रत्यक्ष तथा/या शब्द या किसी अन्य प्रमाण से प्राप्त तथ्यों के आधार पर, व्यक्ति के भीतर स्वयं के साथ (Intra-Personal) या अन्य व्यक्तियों के साथ (Interpersonal or Group of Persons) मिलकर भी किया जा सकता है। इस प्रकार प्राप्त तथ्यों के विवेचन और प्रमाणीकरण की तर्कसंगत प्रक्रिया को अन्वीक्षा कहा जाता है, और जो विद्या या शास्त्र अन्वीक्षा पर आधारित होता है, उसे आन्वीक्षिकी, अर्थात् 'अनुसन्धान का विज्ञान' (Science of Inquiry or Research Methodology), कहा जाता है (विद्या भूषण, पृ. 4)।

यद्यपि संस्कृत ज्ञान परम्परा में एक पृथक विद्या के रूप में आन्वीक्षिकी का उद्भव 650 ईसा पूर्व तक माना जाता है, तथापि अनुसन्धान की प्रक्रिया के मूल

ऋग्वेद[1] में निहित हैं। ऋग्वेद को वाग् रूप में, अर्थात् मौखिक परम्परा के माध्यम से, गुरु-शिष्य की बौद्धिक परम्परा में अनेक शताब्दियों तक संरक्षित रखा गया, उसके पश्चात् वाग-विग्रह, अर्थात् भाषा के लिखित रूप में मंत्रों (ऋचाओं) को प्रकट किया गया।

प्रस्तुतीकरण का प्रारूप

महान ऋषि एवं दार्शनिक मेधातिथि गौतम (550 ईसा पूर्व), जो न्यायदर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं, ने इस अनुसन्धान प्रक्रिया के लिए एक तकनीकी रूपरेखा स्थापित की, जिसमें प्रस्तुतीकरण का एक प्रारूप भी सम्मिलित था। इस प्रारूप में पाँच अवयव हैं – प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इसे पंचावयव भी कहते हैं। किन्तु समय-समय पर विभिन्न अनुशासनों और परम्पराओं के विद्वानों द्वारा इस प्रारूप को अपनी आवश्यकता के अनुसार रूपान्तरित करने के प्रयास भी हुए हैं, जिनका उल्लेख आगे किया जाएगा; तथापि आज भी मेधातिथि गौतम का यह प्रारूप अधिकांश विद्वानों द्वारा प्रयोग किया जाता है। शताब्दियों से संस्कृत ज्ञान परम्परा के विद्वान इस काल-परीक्षित प्रस्तुतीकरण के प्रारूप को पढ़ाने, सीखने तथा शास्त्रार्थ के संचालन हेतु 'पहाड़ी पर अग्नि' के उदाहरण का प्रयोग करते रहे हैं। इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है:

प्रतिज्ञा: पहाड़ी पर अग्नि है।

हेतु: क्योंकि वहाँ धुआँ है।

उदाहरण: जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोई में।

---

1. विद्वानों में इस विषय पर मतभेद है कि वेद एक ही ग्रन्थ है जिसके चार भाग हैं, या वह चार स्वतन्त्र ग्रन्थों–ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद–का समुच्चय है। वैदिक ज्ञान-प्रणाली में ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद को वेद की चार संहिताएँ माना गया है और वेदपुरुष के धड़-भाग के रूप में समझा जाता है। इनके अनुसार वेद कि चारों संहिताएँ एक साथ अवतरित हुए हैं। हालाँकि, आधुनिक पाश्चात्य-केन्द्रित विद्वान चारों वैदिक संहिताओं को अलग-अलग कालखण्ड की रचनाएँ मानते हैं, जिनमें ऋग्वेद को प्राचीनतम माना जाता है। इन संहिताओं की काल-निर्धारण के विषय में भी सर्वसम्मति नहीं है। अनेक पाश्चात्य विद्वान ऋग्वेद का काल लगभग 1500 ईसा पूर्व मानते हैं, जबकि सरस्वती नदी पर आधारित नवीन अध्ययन संकेत करते हैं कि वैदिक काल 10,000 ईसा पूर्व या उससे भी पूर्व का हो सकता है। तथापि, यह विवाद इस ग्रन्थ का मुख्य विषय नहीं है। तिथियों का उल्लेख केवल जहाँ आवश्यक है, वहीं किया गया है। *The Hindustan Times* (2021). 'New Study Challenges Argument on Existence of Saraswati River', 17 June, available at https://www.hindustantimes.com/cities/chandigarh-news/new-study-challenges-argument-on-existence-of-saraswati-river-101623869893527.html

उपनय: पहाड़ी पर धुआँ है।

निगमन: अत: पहाड़ी पर अग्नि है।

उपर्युक्त 'पहाड़ी पर अग्नि' का दृष्टान्त निश्चितता के साथ निष्कर्ष प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त होता है। दो विद्वानों के मध्य शास्त्रार्थ करने के लिए ऐसे प्रमेय (विषय) की आवश्यकता होती है, जिसमें दो प्रबल किन्तु परस्पर विरोधी संभावनाएँ हों। अब 'ज्ञान (Knowledge) और शक्ति (Power) के सम्बन्ध' का परीक्षण करते हैं। इस उदाहरण में दो प्रबल किन्तु परस्पर विरोधी संभावनाएँ हैं: (क) ज्ञान में शक्ति है, क्योंकि वह मानव व्यवहार में परिवर्तन लाता है, जैसे सहकर्मी प्रभाव (Peer Pressure)। (ख) ज्ञान में शक्ति नहीं है, क्योंकि वह स्वयं कार्य नहीं कर सकता, जैसे नियम-पुस्तिका। शास्त्रार्थ में जो व्यक्ति, दल या समूह प्रथम विकल्प अथवा अनुमोदक मत का समर्थन करता है, उसे "वादी" कहा जाता है; और जो द्वितीय विकल्प अथवा नकारात्मक मत का समर्थन करता है, उसे "प्रतिवादी" कहा जाता है। उनके मत क्रमश: "पक्ष" और "प्रतिपक्ष" कहलाते हैं। इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है:

वादी

प्रतिज्ञा: ज्ञान में शक्ति है।

हेतु: क्योंकि वह मानव व्यवहार में परिवर्तन लाता है।

उदाहरण (Illustration): जो-जो मानव व्यवहार में परिवर्तन लाता है, उसमें शक्ति होती है, जैसे सहकर्मी प्रभाव।

उपनय: ज्ञान भी मानव व्यवहार में परिवर्तन लाता है।

निगमन: अत: ज्ञान में शक्ति है।

प्रतिवादी

प्रतिज्ञा: ज्ञान में शक्ति नहीं है।

हेतु: क्योंकि वह स्वयं कार्य नहीं कर सकता।

उदाहरण (Illustration): जो-जो स्वयं कार्य नहीं कर सकता, उसमें शक्ति नहीं होती, जैसे नियम-पुस्तिका।

उपनय: ज्ञान भी स्वयं कार्य नहीं कर सकता।

निगमन: अत: ज्ञान में शक्ति नहीं है।

अध्याय 8

तर्कवाक्य में दोषों की पहचान

तर्कवाक्य में दोषों के प्रकार

गौतम के न्यायसूत्र की चार श्रेणियाँ–हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान–तर्क में दोषों (त्रुटियों) की पहचान करने के लिए प्रयुक्त होती हैं। इसके अतिरिक्त, तर्क की द्वैध प्रकृति है; इसका उपयोग एक ओर दोषरहित सुदृढ़ तर्क के निर्माण के लिए किया जाता है, तो दूसरी ओर दोषों की पहचान करने के लिए भी। यद्यपि शास्त्रार्थ में इन्हें दोष माना जाता है, तथापि सृजनात्मक लेखन, काव्य-पाठ, गीत, भाषण, कॉमेडी और ह्यूमर आदि में इनका अलंकार के रूप में प्रयोग किया जाता है। कवि, लेखक, गायक और वक्ता श्रोताओं का मनोरंजन करने हेतु इन दोषों का प्रयोग करते हैं, जिसके लिए उन्हें सराहा, मान्यता दी जाती है और पुरस्कृत भी किया जाता है। इस प्रकार, जहाँ अनुसंधान, आलोचनात्मक विश्लेषण और शास्त्रीय वाद-विवाद में ये दोष निंदनीय हैं, वहीं साहित्यिक रचनाओं, पाठ एवं प्रस्तुतियों में प्रशंसनीय माने जाते हैं। तथापि, प्रस्तुत पुस्तक में इन्हें शास्त्रार्थ के दृष्टिकोण से दोष के रूप में ही वर्णित किया गया है।

मान लीजिए कि दो व्यक्ति–'A' और 'B'–शास्त्रार्थ के जल्प रूप में सहभागी हैं। यदि 'A' कोई तर्क प्रस्तुत करता है, तो उसमें दोषों की पहचान करना 'B' का उत्तरदायित्व है, और यही बात 'B' पर भी समान रूप से लागू होती है। 'A' को इन चार श्रेणियों–हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान–में से किसी दोष का अनजाने में या जानबूझकर प्रयोग करने के लिए दण्डित नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसे दोषों की पहचान करना केवल 'B' का ही कर्तव्य है। इसी प्रकार, यदि 'B' भी किसी दोष का प्रयोग–चाहे अनजाने में या जानबूझकर–'A' को पराजित करने के लिए करता है, तो वही सिद्धान्त उस पर भी लागू होता है। इसका अर्थ है कि प्रतिपादक और प्रतिवादी दोनों समान स्तर पर स्थित हैं। वे एक-दूसरे के तर्कों में प्रयुक्त दोषों की पहचान करने

और उनका समुचित समाधान करने के लिए उत्तरदायी हैं। अपने तर्क के समर्थन में दिया गया स्पष्टीकरण ऐसा होना चाहिए जो तर्क को सुदृढ़ बनाए और प्रतिद्वन्द्वी द्वारा प्रस्तुत विरोधी विकल्पों का खण्डन करे। इस प्रकार, शास्त्रार्थ व्यक्ति की अपने तर्क की रक्षा करने की क्षमता की परीक्षा का एक व्यवस्थित साधन प्रदान करता है।

किन्तु वस्तुनिष्ठता बनाए रखने और सत्य ज्ञान के प्रसार को सुनिश्चित करने के लिए न्याय के परवर्ती आचार्यों ने सभापति तथा निर्णायक मण्डल के सदस्यों को भी दोनों पक्षों के तर्कों में दोषों की पहचान करने और स्पष्टीकरण प्राप्त करने की प्रक्रिया में सम्मिलित किया। इस विषय पर अध्याय 10 'शास्त्रार्थ का आयोजन' में विस्तार से चर्चा की जाएगी।

रोचक बात यह है कि यदि इस दायित्व के सिद्धान्त की तुलना वर्तमान काल की न्यायपालिका और विधायिका में होने वाली सुव्यवस्थित वाद-विवाद प्रक्रिया से की जाए, तो एक विशेष समानता दिखाई देती है, जहाँ प्रतिपक्ष के तर्क का उत्तर प्रस्तुत करने का दायित्व वादी/प्रतिवादी पर ही होता है। अतः न्यायसूत्र में तत्त्वज्ञान-प्राप्ति की श्रेणियाँ (categories) शास्त्रार्थ में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे संदेश-प्राप्तकर्ता (वादी या प्रतिवादी) को प्रस्तुत तर्क में निहित दोषों की पहचान करने में सहायक होती हैं। इस प्रकार, समकालीन भाषिक संचार (Verbal Communication) के तत्वों के अतिरिक्त, कथन में दोषों की पहचान के लिए गौतम की ये श्रेणियाँ दार्शनिक आयाम भी रखती हैं। किसी एक वाक्य में एक से अधिक दोष हो सकते हैं, किन्तु व्याख्या की सुविधा के लिए एक समय में केवल एक प्रकार के दोष का विवेचन किया जाएगा।

समाज में सर्वाधिक सुदृढ़ विचारों, सिद्धान्तों, उपागमों और सत्य ज्ञान का ही प्रचार-प्रसार हो, इसे सुनिश्चित करने के लिए शास्त्रार्थ की पद्धति किसी भी तर्क में दोषों की पहचान का सुसंगठित तन्त्र प्रदान करती है। इसका उपयोग कोई भी विद्वान/वक्ता/समालोचक किसी भी समय किसी तर्क में विसंगतियों की पहचान और उसके मिथ्याकरण के लिए कर सकता है। यदि संदेश/ वचन में दोष सिद्ध हो जाता है, तो वक्ता का आगे उस विषय को प्रचारित करने का अधिकार समाप्त हो जाता है। यदि वह औपचारिक जल्प है, तो वादी पराजित घोषित किया जाता है। यह प्रावधान इतने दृढ़ माने गए हैं कि यदि किसी छात्र/शिष्य द्वारा भी आपत्ति उठाई जाए, तो आचार्य (गुरु) को अपना वक्तव्य रोकना अपेक्षित होता है।

1. हेत्वाभास (हेतु के दोष)

यदि वादी द्वारा हेत्वाभास किया जाता है, तो संबंधित विषय-वस्तु के स्वरूप को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किए गए हेतु को प्रमाण सहित स्थापित करना आवश्यक होता है। यदि कोई व्यक्ति अनजाने या जानबूझकर दोषयुक्त हेतु का प्रयोग करता है, तो उसके प्रतिपक्ष को उसे इंगित कर सिद्ध करना चाहिए। यदि प्रतिपक्ष आरोप सिद्ध कर देता है, तो वादी का पक्ष 'दोषपूर्ण हेतु' के प्रयोग के कारण पराजित घोषित होता है; और यदि वह सिद्ध नहीं कर पाता, तो वह मिथ्या आरोप लगाने के कारण स्वयं पराजित माना जाता है। अन्य शब्दों में, यदि कथन असत्य सिद्ध होता है तो उसे अस्वीकार किया जाएगा, अन्यथा उसे स्वीकार किया जाएगा। इसे एक प्रसंग के माध्यम से और स्पष्ट किया जा सकता है।

प्रसंग: 'अ' और 'ब' के बीच जल्प हो रहा है। 'अ' एक तर्क प्रस्तुत करता है, जिसमें 'ब' हेतु-दोष का आरोप लगाता है। अब 'अ' अपने तर्क की रक्षा के लिए 'ब' के आरोपों का खण्डन करेगा। यदि 'ब' अपने आरोप सिद्ध कर देता है, तो 'अ' पराजित माना जाएगा, अर्थात् उसका तर्क अस्वीकार कर दिया जाएगा। किन्तु यदि 'ब' आरोप सिद्ध करने में असफल रहता है, तो वह स्वयं पराजित घोषित होगा और उसका तर्क अस्वीकार किया जाएगा। इस प्रकार, तर्क में हेतु-दोष का प्रयोग करना उतना ही संकटकारक है जितना प्रतिपक्ष के तर्क में उसे आरोपित करना। गौतम ने हेतु-दोष के पाँच प्रकार बताए हैं:

(क) अनेकान्तिक: यह हेतु-दोष ऐसा है जो दो या अधिक परस्पर-विरोधी निष्कर्षों की ओर ले जाता है। अन्य शब्दों में, ऐसा हेतु उस प्रतिज्ञा से सम्बद्ध नहीं होता जिसकी सिद्धि इसका उद्देश्य है।

प्रसंग: "क" भ्रष्ट है, क्योंकि उसके पास "ख" के समान अपार धनसंपदा है।

इस तर्कवाक्य में वादी 'अपार धनसंपदा' को हेतु के रूप में प्रस्तुत करता है, जिससे यह सिद्ध करना चाहता है कि "क" भ्रष्ट है। यह हेतु अनेकान्तिक है, क्योंकि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए, तो जिन-जिन व्यक्तियों के पास अपार धनसंपदा है, वे सभी भ्रष्ट माने जाएंगे। "क" पर भ्रष्टाचार के आरोप केवल अपार धनसंपदा होने के कारण नहीं हैं, बल्कि इसलिए हैं कि उन्होंने भ्रष्ट साधनों का उपयोग किया और विधि का उल्लंघन किया। यहाँ प्रतिपक्ष को यह तर्क देना चाहिए कि 'अपार धनसंपदा' का "क" के भ्रष्टाचार से कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि उनके भ्रष्ट आचरण ही आरोपों के लिए उत्तरदायी हैं। इस प्रकार, प्रतिपक्ष द्वारा इस तर्क को अनेकान्तिक सिद्ध किया जा सकता है।

(ख) विरुद्धः यह हेतु-दोष ऐसा है जो प्रतिज्ञा (जिसे सिद्ध करना है) के विपरीत होता है। दूसरे शब्दों में, इस तर्क-वाक्य का "हेतु" प्रतिज्ञा के विरुद्ध (contradictory) है।

प्रसंग 1: घट उत्पन्न है, क्योंकि वह नित्य है, जैसे आत्मा।

इस प्रसंग में प्रस्तुत हेतु "विरुद्ध हेतु" है, क्योंकि जो उत्पन्न होता है वह अनित्य होता है। साथ ही, 'उत्पन्न होना' का लिङ्ग आत्मा में अनुपस्थित है।

प्रसंग 2: क ईमानदार है, क्योंकि उसने अपना काला धन इंग्लैण्ड में निवेश नहीं किया, जैसे ख।

इस प्रसंग में 'क ने अपना काला धन इंग्लैण्ड में निवेश नहीं किया' यह हेतु प्रतिज्ञा के विरुद्ध है। यह हेतु स्वयं स्वीकार करता है कि क के पास काला धन है, जो ईमानदारी के अनुरूप नहीं है। अतः क के ईमानदार होने की प्रतिज्ञा इस हेतु से विरोध करती है।

प्रसंग 3: ई-सिगरेट हानिकारक नहीं हैं, क्योंकि वे फेफड़ों के रोग उत्पन्न कर सकती हैं, जैसे सिगरेट।

इस प्रसंग में 'क्योंकि वे फेफड़ों के रोग उत्पन्न कर सकती हैं' यह हेतु प्रतिज्ञा के विरुद्ध है।

(ग) प्रकरणसम (प्रश्न के समतुल्य): यह ऐसा मिथ्या हेतु है, जो उसी प्रश्न को पुनः उत्पन्न करता है, जिसका समाधान करने के लिए उसका प्रयोग किया गया था (घोष, पृ. 57)।

प्रसंग 1: शब्द अनित्य है, क्योंकि उसमें नित्यत्व का गुण नहीं है, जैसे घट।

इस प्रसंग में 'अनित्य' का अर्थ है–जिसमें नित्यत्व का गुण नहीं है। प्रस्तुत हेतु प्रतिज्ञा के अर्थ को ही दोहराता है। अतः यह प्रश्न के समतुल्य है।

प्रसंग 2: आन्दोलन हिंसक हो गया, क्योंकि उसमें हिंसा की गई, जैसे अंग्रेजों भारत छोड़ो (1942)।

'क्योंकि उसमें हिंसा की गई' यह हेतु उसी बात को दोहराता है जिसे सिद्ध करना है; अतः यह प्रश्न के समतुल्य है और मान्य कारण नहीं है।

प्रसंग 3: रिया ने उसके विवाह प्रस्ताव को अस्वीकार किया, क्योंकि वह उससे विवाह नहीं करना चाहती थी।

वह स्वयं पराजित घोषित होता है। इस प्रकार, कोई पक्ष लगभग निश्चित पराजय[1] से बचने के लिए अंतिम उपाय के रूप में जाति-उत्तर का प्रयोग करता है। निम्नलिखित उदाहरण पर विचार करें:

प्रसंग: मान लीजिए दो व्यक्ति- 'क' और 'ख' किसी विषय पर जल्प में भाग ले रहे हैं। क एक तर्क प्रस्तुत करता है। ख के पास कोई उत्तर नहीं है। ख पराजय के निकट पहुँच जाता है। अपने मत का समर्थन करने के लिए उसके पास कोई युक्तिसंगत तर्क नहीं बचता। तब वह अंतिम प्रयास करते हुए एक "जाति" का उपयोग करता है ताकि निश्चित पराजय से बच सके। इस प्रकार अब गेद क के पाले में चली जाती है। अब पाँच संभावनाएँ हो सकती हैं:

क्रम सं.	संभावना	परिणाम
1.	क जाति-उत्तर को पहचानने में असफल रहता है।	ख निश्चित पराजय से बचने में सफल होता है, जल्प आगे चलता रहता है।
2.	क जाति-प्रत्युत्तर को इंगित करता है, परंतु उसे सिद्ध करने में असफल रहता है।	ख जल्प में विजय प्राप्त करता है।
3.	क जाति-प्रत्युत्तर को इंगित करता है और उसे सिद्ध करता है।	क जल्प में विजय प्राप्त करता है।
4.	क भ्रमित हो जाता है। वह भी जाति-प्रत्युत्तर का उपयोग करता है और ख उसके जाति-प्रत्युत्तर को सिद्ध करता है।	ख जल्प में विजय प्राप्त करता है।
5.	क जाति-प्रत्युत्तर का उपयोग करता है, परंतु निर्णायक मंडल इसे पहचानने में असफल रहता है या विराम का निर्देश नहीं देता। तत्क्षण ख भी जाति-प्रत्युत्तर का उपयोग करता है।	यह स्थिति "षट्पक्षी" की अवस्था उत्पन्न करती है। न क और न ही ख जल्प में विजय प्राप्त करते हैं। जल्प अनिर्णीत रह जाता है। विषय के वास्तविक स्वरूप का निश्चय नहीं हो पाता। यह एक 'द्वि-दोष' के समान स्थिति होती है, अर्थात पक्ष और विपक्ष दोनों के तर्कों में दोष सिद्ध हो जाता है।

1. न्यायमञ्जरी-जयन्त भट्ट (दशम शताब्दी ईस्वी), कश्मीर विचारधारा के एक प्रतिष्ठित न्याय विद्वान।

अध्याय 9

शास्त्रार्थ के उपागम

मेधातिथि गौतम ने वाद, जल्प और वितण्डा को बौद्धिक चर्चा की तीन पृथक श्रेणियों के रूप में निरूपित किया है। परन्तु वात्स्यायन ने 'न्यायभाष्य' में 'कथा' शब्द का प्रयोग करते हुए इन्हें कथा के तीन प्रकारों के अंतर्गत समाहित किया, जो आगे चलकर 'शास्त्रार्थ' के रूप में प्रसिद्ध हुए। कालान्तर में इसमें "जल्प" को ही "शास्त्रार्थ" कहा जाने लगा।

कथा अथवा शास्त्रार्थ का मुख्य उद्देश्य मिथ्या मतों का खण्डन करते हुए सम्बन्धित विषय-वस्तु के तत्त्वज्ञान अथवा वास्तविक स्वरूप का बोध कराना है। प्रतिपादक और प्रतिपक्षी के विशेष संदर्भ में, कथा को अपने मत की स्थापना और प्रतिपक्षी के मत के खण्डन के रूप में समझा जा सकता है। शास्त्रार्थ के निर्णय में, जो मत स्थापित अथवा निश्चित होता है, वही विषय का यथार्थ स्वरूप (सत्य) माना जाता है, जिसे समाज में स्वीकार और प्रसारित किया जाना चाहिए, जबकि खण्डित मत को असत्य मानकर त्याग करना चाहिए।

यद्यपि प्रारम्भ में 'कथा' शब्द का प्रयोग गंभीर बौद्धिक संवाद के लिए होता था, किन्तु भक्ति काल में 'कथा' का प्रचलन भक्ति-प्रधान आख्यानों के लिए होने लगा। कालान्तर में 'शास्त्रार्थ' ने शैक्षिक क्षेत्र में 'कथा' का स्थान ग्रहण किया और यह गंभीर बौद्धिक संवाद के लिए एक प्रचलित पद बन गया। शास्त्रार्थ के चार प्रमुख उपागम (Approach or Model) बताए गए हैं: संवाद, वाद, जल्प और वितण्डा।

1. संवाद

मेधातिथि गौतम ने वाद, जल्प और वितण्डा को सोलह पदार्थों के अंतर्गत निरूपित किया है, जिनका तत्त्वज्ञान निष्श्रेयस (मोक्ष अथवा परम कल्याण) का कारण माना गया है, किन्तु 'संवाद' का उल्लेख वहाँ नहीं मिलता। तथापि 'संवाद' शब्द का प्रयोग न्यायसूत्र के चतुर्थ अध्याय के द्वितीय आह्निक में प्राप्त होता है। यहाँ

एक शिक्षार्थी को निर्देश दिया गया है कि वह अपने ज्ञान को सुदृढ़ करने के लिए उसी शास्त्र (न्यायशास्त्र) के विद्वानों के साथ संवाद का अध्ययन, अभ्यास और अनुष्ठान करे (न्यायसूत्र 4.2.47)।

वात्स्यायन ने 'न्यायभाष्य' में इसे और स्पष्ट करते हुए संवाद को उसी शास्त्र से सम्बन्धित वाद का एक विशेष प्रकार बताया है। न्यायभाष्य में संवाद की संकल्पना का विस्तार करते हुए वे कहते हैं कि शिक्षार्थी को ज्ञान (पाठ) ग्रहण करने के पश्चात उसका अभ्यास करना चाहिए तथा ज्ञान के परिपाक (strengthening) के लिए उसी शास्त्र के विद्वानों के साथ संवाद करना चाहिए। यहाँ 'अभ्यास' का अर्थ अध्ययन, श्रवण (उच्चारण की शुद्धि के लिए) तथा उपदिष्ट विषय/शास्त्र पर मनन करके उसके आन्तरिक अर्थ को समझना है; जबकि 'परिपाक' का उद्देश्य अविज्ञातार्थ-बोध, संशय-छेदन तथा स्थापित अथवा ज्ञात ज्ञान का ग्रहण करना है (न्यायभाष्य 4.2.47)। यह शैक्षिक दृष्टि अनुशासन के ज्ञान/पाठों के अन्तरीकरण की प्रक्रिया तथा निरन्तर अधिगम (learning) के माध्यम से उसके संवर्धन का मार्ग प्रदान करती है।

अगले श्लोक में संवाद के लिए पाँच प्रकार के व्यक्तियों का निर्देश दिया गया है–गुरु (आचार्य), शिष्य, अधिक ज्ञानी विद्वान, समकक्ष विद्वान तथा ईर्ष्यारहित विद्वान। यदि संवाद के दौरान प्रतिपक्ष प्रस्तुत करने से गुरु के क्रुद्ध होने की सम्भावना हो, तो शिक्षार्थी को प्रतिपक्ष प्रस्तुत करने से विरत रहना चाहिए और गुरु द्वारा प्रस्तुत मत/दर्शन के आलोक में अपने दृष्टिकोण का पुनरावलोकन करना चाहिए। तथापि, अन्तिम दो श्लोकों में संतुलन एवं नियंत्रण की व्यवस्था भी प्रस्तुत की गई है।

संवाद और वादकथा का तुलनात्मक विश्लेषण

विषय	संवाद	वादकथा
प्रयोजन (साध्य)	तत्त्वज्ञान की प्राप्ति, ज्ञान का परिपाक	तत्त्वज्ञान की प्राप्ति, मित्रवत् एवं सौहार्दपूर्ण बौद्धिक प्रतिस्पर्धा
साधन	निग्रहस्थानों का प्रयोग नगण्य होता है।	सीमित निग्रहस्थानों के प्रयोग की अनुमति
व्यापकता	अत्यंत व्यापक है; बिना प्रतिपक्ष के भी संवाद हो सकता है।	पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों आवश्यक होते हैं। प्रतिपक्ष (पूर्वपक्ष) का खण्डन और पक्ष (उत्तरपक्ष) की स्थापना अनिवार्य होती है।

विषय	संवाद	वादकथा
ज्ञान प्रतियोगिता	ज्ञान-प्रतियोगिता दुर्लभ है।	ज्ञान-प्रतियोगिता संभव है, क्योंकि पराजित पक्ष अपने मत के दोषों को स्वीकार कर विजयी पक्ष की बौद्धिक श्रेष्ठता को सहर्ष स्वीकार कर लेता है।
अनुप्रयोग	गुरु (आचार्य), शिष्य, मनीषी, अधिक ज्ञानी विद्वान, ईर्ष्यारहित विद्वान तथा समकक्ष विद्वान	गुरु (आचार्य), शिष्य, मनीषी, अधिक ज्ञानी विद्वान, तथा समकक्ष विद्वान

वात्स्यायन कहते हैं कि यदि गुरु अथवा प्रतिपक्षी अपने मत के प्रति आसक्त होकर पूर्वाचार्यों द्वारा स्थापित शास्त्रीय सिद्धान्तों का उल्लंघन करने लगे, तो शिक्षार्थी को शास्त्र की रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा का आश्रय लेना चाहिए। इस व्यवस्था को काव्यात्मक रूप में इस प्रकार व्यक्त किया गया है–जिस प्रकार काँटेदार वनस्पतियों की शाखाएँ रोपों की रक्षा के लिए प्रयुक्त होती हैं, उसी प्रकार सत्य ज्ञान (तत्त्वज्ञान) की रक्षा के लिए संवाद में भी जल्प और वितण्डा का उपयोग किया जा सकता है (न्यायभाष्य 4.2.50)। यदि जल्प और वितण्डा के उपायों का प्रयोग किया जाता है, तो संवाद अपनी स्वाभाविक स्थिति में नहीं रहता, अपितु वह जल्प या वितण्डा में परिवर्तित हो जाता है। तथापि, शिक्षार्थी को सावधान किया गया है कि वह जल्प और वितण्डा का प्रयोग लाभ, प्राप्ति, यश या प्रतिष्ठा के लिए न करे, बल्कि केवल सत्य ज्ञान की रक्षा के लिए ही करे (न्यायभाष्य 4.2.51)।

अधिगम (learning) के प्रारम्भिक चरण में गुरु और शिष्य के बीच वाद प्रायः एकदिशात्मक होता है, किन्तु जैसे-जैसे शिष्य का ज्ञान विकसित होता है, वह प्रश्न और प्रतिपक्ष अधिक प्रस्तुत करने लगता है। उन्नत स्तर पर वह अपने आचार्य के साथ संवाद में प्रवृत्त होता है। उदाहरणतः, एक शोधार्थी (Ph.D. Scholar) अपने शोध-निर्देशक (Guide/Supervisor) अथवा सहकर्मी समूह के साथ संगोष्ठियों और सम्मेलनों में संवाद करता है। संचार के दृष्टिकोण से, संवाद वाद की अपेक्षा अधिक अन्तःक्रियात्मक (interactive) और द्विदिशात्मक (bidirectional) है, जिसमें प्रेषक (Sender) और ग्रहणकर्ता (Receiver) समान स्तर पर विचारों (संदेशों) का आदान-प्रदान करते हैं। संवाद की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें दोनों पक्ष बिना पूर्वाग्रह के, अपने-अपने पक्ष या दृष्टिकोण के प्रति अति-आसक्ति

त्यागकर बौद्धिक चर्चा करते हैं तथा अपने विचारों का शोधन और परिमार्जन करते हैं। उनमें ईर्ष्या, द्वेष अथवा एक-दूसरे को पराजित करने की भावना के स्थान पर विषय के वास्तविक और प्रामाणिक स्वरूप का बोध ही प्रमुख प्रयोजन होता है। जैसे: वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में अधिकांश बौद्धिक विमर्श संवाद-प्रकृति के माने जाते हैं।

2. वाद

यदि किसी एक ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप के विषय में दो सम्भावित विकल्प हों, तो पहला 'पक्ष' और दूसरा 'प्रतिपक्ष' कहलाता है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप से सम्बन्धित विकल्प 'पक्ष' और 'प्रतिपक्ष' नहीं माने जाते।

प्रसंग 1: शब्द नित्य है (पक्ष)। शब्द अनित्य है (प्रतिपक्ष)।

प्रसंग 2: शब्द नित्य है (पक्ष)। आकाश अमूर्त है (असम्बद्ध प्रतिपक्ष)। दूसरे प्रसंग में औपचारिक वाद नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतिपक्ष भिन्न विषय से सम्बन्धित है, अत: वह वैध प्रतिपक्ष नहीं माना जाता।

वाद की परिभाषा में गौतम ने 'पक्ष' और 'प्रतिपक्ष' के 'परिग्रह' शब्द का प्रयोग किया है। इसका सरल अर्थ है-पक्ष की स्थापना अथवा सिद्धि करना तथा प्रतिपक्ष के दोषों को दर्शाते हुए उसका खण्डन करना। इस प्रक्रिया के द्वारा जो तर्क अन्तत: स्थापित होता है, वही विषय का यथार्थ स्वरूप माना जाता है। निष्कर्षत:, दोनों पक्ष उस तत्त्वज्ञान अथवा प्रामाणिक ज्ञान का अनुसरण करने पर सहमत होते हैं, जब तक कि वह अन्यथा सिद्ध न हो जाए।

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ: सिद्धान्ताविरुद्ध: पञ्चावयवोपपन्न: पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद:।। (न्यायसूत्र 1.2.1)

अत: गौतम के अनुसार, 'वाद वह है जिसमें व्यक्ति प्रमाण और तर्क के माध्यम से अपने पक्ष की स्थापना करता है तथा प्रतिपक्ष का खण्डन करता है। साथ ही, इसमें पंचावयवों का पालन हो और अपने-अपने अनुशासन के सिद्धान्तों अथवा शास्त्रों का विरोध नहीं होना चाहिए, अर्थात् स्वीकृत पक्ष और प्रतिपक्ष की व्यवस्थित संरचना का अनुसरण करना चाहिए। वाद स्वीकृत पक्ष और प्रतिपक्ष की व्यवस्थित संरचना के अंतर्गत संचालित होता है, जो एक पक्ष की स्थापना और दूसरे के खण्डन तक निरन्तर चलता रहता है। अत: एक औपचारिक रूप से संगठित वाद निम्नलिखित मूल सिद्धान्तों पर आधारित होता है:

इस शास्त्रार्थ से उत्पन्न नवनीत को समझने की सुविधा हेतु निम्नलिखित आलेख प्रस्तुत किया गया है:

आचार्य शंकर और मण्डन मिश्र के बीच हुए शास्त्रार्थ का निष्कर्ष

अद्वैत साधक
↑
वेदसम्मत साधक
↑
नास्तिक

शंकराचार्य के अनुसार विभिन्न आध्यात्मिक दर्शन एवं उनके साधकों की अवस्थाएँ

आध्यात्मिक साधना के मार्ग	साधना का स्तर	साधक के कर्म	साधक की उपलब्धि	मानव जनसंख्या में साधकों का अनुपात
अद्वैत वेदान्त दर्शन	उत्तम	सभी कामनाओं का त्याग करके ईश्वर के सच्चिदानन्द स्वरूप की आराधना एवं उसका प्रचार	मोक्ष (आत्मा का परमात्मा में लीन हो जाना)	अति सूक्ष्म अनुपात
वेदसम्मत दर्शन	मध्यम	वेदसम्मत कर्मों का उनके मूल भाव और तत्त्व के अनुसार पालन, जैसे यज्ञ, वर्णाश्रम धर्म आदि	स्वर्ग (इन्द्र-लोक),वैकुण्ठ (विष्णुलोक), महाकाल लोक (शिवलोक) आदि की प्राप्ति; पुण्य-भोग के पश्चात् पुनर्जन्म होता है।	अधिकतम जनसंख्या

अध्याय 10

शास्त्रार्थ का आयोजन

वैदिक युग से ही शास्त्रार्थ बौद्धिक संवाद का एक लोकप्रिय माध्यम रहा है। वैदिक साहित्य सृष्टिकर्ता की ओर से किसी आदेश या अनिवार्य निर्देश का प्रतिपादन नहीं करता, बल्कि शाश्वत सत्य (सत्यम्) की अन्वेषणा पर बल देता है। यह किसी पूर्वकालीन संदेशवाहक के वचनों या उपदेशों में आस्था नहीं रखता, बल्कि प्रत्येक ज्ञानार्थी को प्रतिस्पर्धा के लिए एक मंच प्रदान करता है।

इस दृष्टि के अनुसार, अपने मत को प्रस्तुत करने तथा उसकी समालोचनात्मक परीक्षा के लिए एक विधि विकसित की गई है। जब भी किसी मत को चुनौती दी जाती है, तब प्रतिद्वंद्वियों के साथ संवाद के लिए भी इसी विधि का उपयोग किया जाता है, जिससे यह सुनिश्चित हो सके कि सत्य के किसी स्वरूप का दमन या उन्मूलन न हो। अतः शास्त्रार्थ के आयोजन और संचालन का उद्देश्य प्रतिस्पर्धात्मक वातावरण में विषय के तत्त्वज्ञान की स्थापना करना है। शास्त्रार्थ के संचालन की, विशेषतः मर्यादा बनाए रखने की, जिम्मेदारी सभा के सभापति (अध्यक्ष) पर होती है।

ऋग्वेद (10.71) तथा मेधातिथि गौतम (न्यायसूत्र 4.2.47-51), वात्स्यायन (न्यायभाष्य 4.2.47-51), वरदराज और पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री द्रविड़[1] के विचारों के आधार पर, शास्त्रार्थ के उद्देश्यों को निम्न प्रकार से संक्षेपित किया जा सकता है:

1. अज्ञात ज्ञान को जानना एवं समझना,
2. ज्ञात ज्ञान की पुष्टि एवं सुदृढ़ीकरण करना,

---

1. तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्। [तत्त्वज्ञान के निश्चय की रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा उसी प्रकार उपयोगी होते हैं, जैसे अंकुरित होते हुए बीज की रक्षा के लिए कांटों से युक्त शाखाओं का आवरण किया जाता है।] – तर्किकरक्षा, पृ. 209; उद्धृतः द्रविड, पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री (2000-01), शास्त्रार्थ-विचारपद्धति, सरस्वती सुषमा, खण्ड 55 (अंक 1-4), पृ. 74।

3. संशय का निराकरण करना,
4. सत्य ज्ञान की रक्षा करना,
5. दूषित ज्ञान का शोधन करना,
6. ज्ञान-प्रतिस्पर्धाओं में प्रतिस्पर्धा करना एवं विजय प्राप्त करना,
7. सत्य ज्ञान को दूषित करने हेतु प्रस्तुत कुत्सित वाक्यों का खण्डन करना,
8. नवीन ज्ञान की खोज (अनुसंधान/ शोध) करना]
9. अन्वेषण (investigation) एवं मूल्यांकन (evaluation) करना।

किसी विषय-वस्तु (प्रमेय) के स्वरूप के विषय में पक्ष और प्रतिपक्ष परस्पर विपरीत होते हैं, अतः दोनों सत्य नहीं हो सकते। इसलिए विचाराधीन प्रमेय के वास्तविक स्वरूप का निर्धारण करने के लिए शास्त्रार्थ किया जाता है। आयोजन की दृष्टि से शास्त्रार्थ लघु एवं विस्तृत-दो प्रकार के हो सकते हैं।

शास्त्रार्थः लघु आयोजन

1. **संवादः** आयोजन की दृष्टि से संवाद शास्त्रार्थ का सबसे सरल रूप है, जिसमें केवल दो व्यक्ति होते हैं-पक्षकर्ता (वादी) और प्रतिपक्षकर्ता (प्रतिवादी)। तथापि, इस तकनीकी युग में इसे अभिलेखित करके लाखों लोगों तक प्रसारित किया जा सकता है। संवाद में किसी भी प्रकार का छल, हेत्वाभास, जाति तथा निग्रह-स्थान का प्रयोग स्वीकार्य नहीं है। इसमें अध्यक्ष अथवा मध्यस्थ द्वारा किसी बाह्य नियमन या नियंत्रण की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि यह प्रक्रिया दोनों प्रतिभागियों द्वारा परस्पर आत्मानुशासन और आत्मनियमन से संचालित होती है। यदि इन गुणों का अभाव हो, तो वह आयोजन स्वतः ही संवाद कहलाने के योग्य नहीं रहता। उदाहरणः श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण और अर्जुन के बीच संवाद, बृहदारण्यक उपनिषद में महर्षि याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी के बीच संवाद।

   संवाद को साक्षात्कार (interview) के साथ भ्रमित नहीं करना चाहिए, क्योंकि संवाद में दोनों पक्ष एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने के लिए स्वतंत्र रूप से प्रश्न करते हैं, जबकि साक्षात्कार में एक व्यक्ति प्रश्न करता है और दूसरे से उत्तर देने की अपेक्षा की जाती है। इस प्रकार संवाद द्विदिशात्मक होकर दोनों को समान स्थान देता है, परन्तु साक्षात्कार एकदिशात्मक होता है और उसमें दोनों पक्षों की भूमिकाएँ स्वभावतः भिन्न रहती हैं। साक्षात्कार में प्रायः साक्षात्कारकर्ता सूचना प्राप्ति के उद्देश्य से विविध उपायों-जैसे

छल, जाति, निग्रह-स्थान आदि–का भी उपयोग कर सकता है; उसका प्रयोजन विषय का सहअन्वेषण न होकर, उत्तरदाता के दृष्टिकोण का उद्घाटन (expose) कराना और यह सुनिश्चित करना होता है कि कुछ भी अप्रकट (hidden) न रह जाए। इसके विपरीत, संवाद का मूल उद्देश्य विषय का सम्यक् अवगम (holistic understanding of subject matter) और परस्पर ज्ञान-विस्तार है। अत: जहाँ साक्षात्कार अधिक आग्रहपूर्ण अन्वेषण (aggressive investigation) का रूप धारण करता है, वहीं संवाद[1] सौहार्दपूर्ण समझ, बौद्धिक विकास और ज्ञानार्जन पर केंद्रित रहता है।

2. **वाद:** वाद को शास्त्रार्थ का अपेक्षाकृत अधिक जटिल रूप माना जा सकता है, क्योंकि इसमें कुछ निग्रह-स्थानों के प्रयोग की अनुमति होती है, जबकि छल और जाति का प्रयोग पूर्णत: प्रतिबंधित होता है। यह मुख्यत: शिक्षण-परिवेश में होता है, जिसमें वादी (शिक्षक) और प्रतिवादी (छात्र) के ज्ञान-स्तर में पर्याप्त अंतर होता है।

   इसमें आचार्य/शिक्षक विषय प्रस्तुत करता है, व्याख्या करता है और फिर उसकी अनुमति से शिष्य (अनुयायी) प्रश्न करता है तथा आचार्य/शिक्षक उत्तर देता है। इस व्यवस्था में आचार्य ही वादी तथा मध्यस्थ–दोनों की

---

1. ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवाद:। – न्यायसूत्र 4.2.47
   सूत्रार्थ: ज्ञान का ग्रहण और अभ्यास तथा तद्विदों के साथ संवाद करना चाहिए।न्याय-भाष्य-व्याख्या: इस सूत्र पर अपने भाष्य में वात्स्यायन कहते हैं कि जिससे जाना जाए उसे ज्ञान कहते हैं। अभ्यास का अर्थ है सतत (लगातार) क्रिया, अर्थात अध्ययन, श्रवण और चिंतन करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि केवल एक बार ज्ञान ग्रहण करने से लाभ नहीं होगा, उसका अभ्यास भी करना चाहिए। साथ ही आत्मविद्या (न्याय शास्त्र या संबंधित शास्त्र) के ज्ञाता विद्वानों के साथ संवाद उस प्रज्ञा के परिपाक (सुदृढ़ीकरण) के हेतु करना चाहिए। परिपाक का अर्थ है उस तत्त्वज्ञान में होने वाले संशय का छेदन, अविज्ञात अर्थ का बोध और अध्यवसित (ascertained knowledge) का निश्चित स्वीकार। समशास्त्र विषयक वाद को ही संवाद कहते हैं।
   तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्ट श्रेयोर्थिभिरनसूयुभिरभ्युपेयात्। –न्यायसूत्र 4.2.48।
   सूत्रार्थ: उस (संवाद) को शिष्य, गुरु और सब्रह्मचारियों/ सतीर्थ सहाध्यायी (co-disciples/ peers), विशिष्ट (अपने से अधिक विद्वान), श्रेयोर्थी (कल्याण की इच्छा रखने वाले और ईर्ष्यारहित) लोगों के साथ करना चाहिए। न्याय- भाष्य-व्याख्या: इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट ही है। अगले सूत्र का अवतरण करते हुए वात्स्यायन कहते हैं कि यदि दूसरे (गुरु आदि का) पक्ष प्रतिकूल हो, अर्थात वह आपके पक्ष का खण्डन और अपने पक्ष का प्रतिपादन करने में संलग्न हों, तो संवाद नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतिकूल आचरण अनिष्ट (harmful) होता है। यदि विद्यार्थी/शिक्षार्थी ऐसा माने तो:

भूमिका का निर्वाह करता है। यदि शिष्य किसी हेत्वाभास की ओर संकेत करता[1] है, तो आचार्य को अपना कथन स्थगित करना आवश्यक होता है। आधुनिक संदर्भ में वह स्पष्टीकरण के लिए समय भी मांग सकता है, जैसे– "इस विषय को मैं अगली कक्षा में स्पष्ट करूँगा।"

वाद में विषय–वस्तु के तत्त्वज्ञान, अर्थात् सत्य या वास्तविक स्वरूप का निर्धारण ही मुख्य उद्देश्य होता है। साथ ही, वाद में दोनों पक्षों को पराजय से एक प्रकार की सुरक्षा (immunity) प्राप्त रहती है, अर्थात् किसी भी स्थिति में कोई पक्ष अपनी विजय या दूसरे की पराजय की घोषणा नहीं कर सकता।

3. **जल्प (विजय हेतु ज्ञान प्रतियोगिता):** जल्प में न्यूनतम तीन व्यक्ति होते हैं: पक्षकर्ता (वादी), प्रतिपक्षकर्ता (प्रतिवादी) और मध्यस्थ (संचालक/ निर्णायक/सभापति)। प्रतिवादी का बौद्धिक स्तर वादी के समकक्ष/ समतुल्य[2] (equivalent) होना अपेक्षित है। यदि वादी और प्रतिवादी के बौद्धिक स्तर में अत्यधिक अंतर हो, तो ऐसी जल्प निष्फल सिद्ध होती है, क्योंकि उसमें सम्यक् तर्क–विनिमय संभव नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में अधिक विद्वान व्यक्ति का मत (वाद या संबोधन) ही विषय–वस्तु के वास्तविक तथा प्रमाणिक स्वरूप के रूप में स्वीकार्य माना जाना चाहिए (न्यायभाष्य 4.2.49)। जैसे किसी विश्वविद्यालय के दो शोध छात्रों/ छात्राओं के बीच जल्प सर्वथा उचित है, क्योंकि वे ज्ञान, बौद्धिक क्षमता तथा शैक्षिक स्तर की दृष्टि से लगभग समतुल्य होते हैं। किन्तु एक शोधार्थी और किसी भिन्न विचारधारा या दर्शन के प्रख्यात आचार्य के बीच जल्प का आयोजन

---

1. प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे। –न्यायसूत्र 4.2.49।
   सूत्रार्थ: प्रयोजन के लिए, अर्थात तत्त्वज्ञान के परिपाक के लिए, संवादार्थी होने पर प्रतिपक्ष से हीन अर्थात प्रतिपक्ष का उपस्थापन न करते हुए भी (without putting forward the counterview) संवाद करना चाहिए।
   न्याय- भाष्य–व्याख्या: वात्स्यायन कहते हैं कि यदि परिपाक का प्रयोजन पूरा हो रहा हो और प्रतिवाद करने से गुरु आदि के क्रोधित होने की संभावना हो, तो बिना प्रश्न किए या प्रतिवाद किए भी परिपाक का लाभ प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार जिज्ञासु को अपने पक्ष/दर्शन का शोधन करना चाहिए। इस प्रकार वात्स्यायन तत्त्वज्ञान के लिए वादकथा की उपयोगिता बतलाने के बाद, अग्रिम सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार ने जल्प और वितण्डा की भी उपयोगिता सिद्ध की है।
2. S.C. Vidya Bhushana (2005). *A History of Indian Logic* (Ancient, Medieval and Modern Schools), p. 379.

अध्याय 11

शास्त्रार्थ और प्रभावी संचार

भारतीय ज्ञान परंपरा में प्रभावी अथवा सफल संचार (effective communication) के समान एक समानांतर अवधारणा मिलती है, जो एक सुसंगठित सैद्धान्तिक रूपरेखा के अंतर्गत विकसित हुई है। 'अर्थाः प्रकाशन्ते' (अर्थ या भाव स्वयं प्रकट होते हैं) वाक्य का प्रयोग प्रभावी संचार के संदर्भ में किया जाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि यदि किसी शिष्य की अपने गुरु में उतनी ही श्रद्धा हो जितनी वह अपने देवता में रखता है, तब गुरुके वचनों का वास्तविक अर्थ उसके भीतर प्रकाशित[1] होता है।

इसके अतिरिक्त, महाभारत में भीष्म, सुलभा और राजा जनक के बीच संवाद की कथा (creative storytelling) के माध्यम से यह प्रतिपादित करते हैं कि जब वक्ता (प्रेषक), संदेश और श्रोता एक ही मनोवैज्ञानिक स्तर पर समन्वित होते हैं, तब संदेश का अर्थ श्रोताओं के भीतर प्रकाशित होता[2] है। इस श्लोक से पूर्व भीष्म दोषरहित भाषिक संचार (flawless verbal & written and speech- communication) के लिए एक तकनीकी रूपरेखा का निरूपण करते हैं। भारतीय ज्ञान परंपरा में संचार की इस संकल्पना को 'शब्द प्रकाशमान होते हैं' (illuminating communication) के रूप में निरूपित किया गया है।

आधुनिक प्रभावी संचार के लगभग सभी सिद्धांत–चाहे लिखित हों या मौखिक–जैसे भाषा, देह-भंगिमा, आत्मविश्वास और स्वर-लय, भारतीय ज्ञान परंपरा के विभिन्न ग्रंथों में मिलते हैं। समकालीन विद्वानों के अनुसार, प्रभावी संचार में बोले

---

1. यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
   तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।। –श्वेताश्वतर उपनिषद्, अध्याय 6, मन्त्र 23
2. वक्ता श्रोता च वाक्यं च यदा त्वविकलं नृप।
   सममेति विवक्षायां तदा सोऽर्थः प्रकाशते।। 91।।
   –श्लोक 91, अध्याय 320, शान्ति पर्व, महाभारत

गए शब्दों का योगदान केवल लगभग सात प्रतिशत होता है, जबकि लगभग 55 प्रतिशत संचार देह-भाषा के माध्यम से और 38 प्रतिशत पराभाषा (स्वर, उतार-चढ़ाव, लय आदि) के माध्यम से होता है। लिखित संचार में, इसके विपरीत, संचार का पूरा भार शब्दों और उनकी प्रस्तुति पर ही होता है, क्योंकि लेखक (संप्रेषक) भौतिक रूप से उपस्थित नहीं होता। इस चुनौती के बावजूद, भारतीय ज्ञान परंपरा के अनेक प्राचीन ग्रंथों में देह-भाषा और पराभाषा का इतना सजीव समावेश मिलता है कि लेखक या कवि मानो सीधे पाठक से संवाद कर रहा हो।

यह ध्यान देने योग्य है कि प्रकाशमान संचार–अथवा प्रभावी संचार–के सिद्धांत, नियम और निर्देश मुख्यत: उन औपचारिक परिस्थितियों में लागू होते हैं जहाँ संचार का उद्देश्य गंभीर प्रकृति का होता है, जैसे बौद्धिक, शैक्षणिक, वैज्ञानिक या आध्यात्मिक प्रसंग। इसके विपरीत, हास्य या व्यंग्य के संदर्भ में इन नियमों में से अनेक को शिथिल किया जा सकता है अथवा उलट भी दिया जाता है।

प्रभावी संचार से संबंधित विविध करणीय (Do's) और अकरणीय (Don'ts) –चाहे औपचारिक हों या अनौपचारिक–जैसे लेखन, वचन, देह-भाषा (हाव-भाव), वेश-भूषा, आसन और आत्मविश्वास, वैदिक काल से लेकर आधुनिक युग तक भारतीय ज्ञान परंपरा के ग्रंथों में विविध रूपों में विद्यमान हैं। कुछ काव्य रूप में मिलते हैं, तो कुछ गद्य रूप में। किन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथ ऐसे भी हैं जो व्यवस्थित विधियाँ प्रस्तुत करते हैं और उनमें लेखन, चर्चा, भाषण तथा आचरण के विषय में पृथक अध्याय समर्पित करते हैं। निम्नलिखित खंड में ऐसे ही कुछ ग्रंथों का प्रभावी संचार की दृष्टि से अवलोकन किया गया है।

प्रभावी संचार: कौटिल्य का दृष्टिकोण

तन्त्रयुक्तियों (वैज्ञानिक रचना की विधियाँ या उपाय) के अतिरिक्त, कौटिल्य अनेक अध्यायों में प्रभावी संचार के सिद्धांतों का निरूपण करते हैं। उनके विचारों को निम्नलिखित श्रेणियों के अंतर्गत व्यवस्थित किया जा सकता है:

क. लिखित संचार (Textual/Written Communication)

ख. भाषण/मौखिक संचार (Speech/Oral Communication)

ग. कायिक संचार (Somatic Communication/Body Language)

घ. वाक्यपारुष्य (अशिष्ट भाषा) के लिए दण्ड (Punishment for Foul Language)

(क) लिखित संचार : कौटिल्य ने 'शासन' के विषय पर अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र के अधिकरण 2 के अध्याय 10 में वर्णन किया है। शासन को परिभाषित करते हुए चाणक्य कहते हैं कि "शासने शासनमित्याचक्षते" (लिखित आज्ञा या संदेश आदि को ही शासन कहते हैं। इस अध्याय में चाणक्य ने राजकीय आदेश, जनसामान्य के लिए घोषणाएँ, पड़ोसी राज्यों के लिए संदेश तथा अन्य प्रकार के आधिकारिक पत्रों के लेखन की विधियाँ और निर्देश प्रस्तुत किए हैं।

ये निर्देश आधुनिक संचार के विविध रूपों पर भी अत्यंत उपयुक्त रूप से लागू होते हैं, जैसे शासकीय राजपत्र अधिसूचनाएँ (Gazette Notifications), विधिक लेखन (Legal Drafting), प्रेस-विज्ञप्तियाँ (Press Releases), पत्रकारिता-लेखन (Journalistic Writing/Communication), संस्थागत पत्राचार (Corporate Communication) आदि।

चाणक्य के अनुसार, शासनादेश, राजकीय पत्र आदि के लेखन का दायित्व जिस व्यक्ति को सौंपा जाए (अर्थात् लेखक), वह तीव्र-बुद्धि वाला, सुंदर वाक्य[1] रचने में कुशल, संस्थागत परंपराओं से भली-भाँति परिचित तथा श्रवण (listening) और पठन (reading), दोनों में प्रवीण होना चाहिए। लेखक[2] को संक्षिप्त (concise) और शिष्ट (courteous) शैली में लिखना चाहिए, तथा संदेश के अंत में इति (समाप्त) जैसे स्पष्ट संकेत अवश्य देने चाहिए।

कौटिल्य (चाणक्य) ने लेखन के छह गुणों का उल्लेख किया है:

1. **अर्थ-क्रम (विषय-वस्तु का क्रमबद्ध विन्यास):** वाक्यों का क्रम तर्कसंगत होना चाहिए, जिसमें मुख्य विषय को पहले और उससे संबंधित विवरणों को बाद में प्रस्तुत किया जाए।
2. **सम्बन्ध (Coherence):** वाक्यों का परस्पर ऐसा संयोजन होना चाहिए कि विरोधाभास न उत्पन्न हो और विचारों का प्रवाह सुगम तथा तर्कसंगत बना रहे।
3. **परिपूर्णता (Completeness):** संचार में संतुलन होना चाहिए–न इतना संक्षिप्त कि अस्पष्ट हो जाए, न इतना विस्तृत कि पाठक का ध्यान भंग हो। इसमें पर्याप्त तर्क, प्रसंग और दृष्टान्त सम्मिलित होने चाहिए।

---

1. कौटिल्य के अनुसार वाक्य ऐसे शब्दों का समूह होता है जो मिलकर पूर्ण अर्थ प्रकट करता है (अर्थशास्त्र, 2.10.22)।
2. चाणक्य कहते हैं कि लेखक में मंत्री के गुण होने चाहिए और वह राज्य की परम्पराओं तथा सामाजिक व्यवस्थाओं में भली प्रकार पारंगत होना चाहिए (अर्थशास्त्र, 2.10.4)।

4. **माधुर्य (Sweetness):** शब्दों का स्वर सुखद (pleasant) हो तथा वे सरलता से बोधगम्य (easily understandable) हों।
5. **औदार्य (Courteous):** भाषा गरिमापूर्ण हो और उसमें किसी प्रकार की अशिष्टता न हो। औदार्य में संस्कार भी सम्मिलित है–अर्थात् लिखित संचार के अनुरूप परिष्कार और विनम्रता।
6. **स्पष्टता (Clarity):** सामान्य और प्रचलित शब्दावली का प्रयोग किया जाए, जिससे पाठक के लिए अर्थ स्पष्ट और बोध सरल हो।

इसके पश्चात् कौटिल्य उद्देश्य के आधार पर पत्रों के 21 प्रकारों का वर्णन करते हैं। इनमें से प्रथम तेरह– निन्दा (Censure), प्रशंसा (Praise), पृच्छा (Query), आख्यान (Statement), अर्थना/प्रार्थना (Request), प्रत्याख्यान (Refusal), उपालम्भ (Reproof), प्रतिषेध (Prohibition), चोदना (Injunction / Direction), सान्त्वना (Consolation), अभ्यवपत्ति (Acceptance / Compliance), भर्त्सना (Strong Reproof), अनुनय (Persuasion / Conciliation) –व्यक्तियों और संस्थाओं दोनों पर समान रूप से लागू होते हैं। शेष आठ– प्रज्ञापन (Notification / Intimation / Formal Communication), आज्ञा (Granting of Order), परिदान (Ceremonial/Ritual and Formal Communications) परिहार (Remedy/Exemption), निसृष्टि (Citation/Authorization), प्रावृत्तिक (समाचार), प्रतिलेख (Response Letter), सर्वत्रग (For General Circulation / Universal Communication/ Public Circulation), मुख्यत: राजकीय कार्य से संबंधित होते हैं।

(ख) वाचिक संचार : कौटिल्य के अनुसार राजा को सत्यवादी, वाग्मी (eloquent) तथा प्रगल्भ (सार्वजनिक वाणी में साहसी और आत्मविश्वासी, अर्थात् सभा में बोलते समय उसका शरीर कम्पित न हो) होना चाहिए। उन्होंने राजसभा में उपस्थित होने के समय मन्त्रियों और राजकीय अधिकारियों के लिए आचार-संहिता (code of conduct) निर्धारित की। ये निर्देश आज भी प्रासंगिक प्रतीत होते हैं और वरिष्ठ अधिकारियों अथवा संस्थाओं के प्रमुखों के साथ औपचारिक बैठकों में पालन किए जा सकते हैं।

i. राजा द्वारा बोलने के लिए कहे जाने पर ही बोलें।
ii. आत्मविश्वास के साथ (निर्भय होकर) बोलें।
iii. संक्षिप्त रहें।

अध्याय 12

उदीयमान परिप्रेक्ष्य

बीसवीं शताब्दी के अंत तक शास्त्रार्थ मंदिरों, मठों, गुरुकुलों और संस्कृत माध्यम के शैक्षिक संस्थानों में हिंदू धर्मगुरुओं और पंडितों आदि के बीच बौद्धिक संवाद के रूप में अपनी प्रासंगिकता खो चुका था (देखें, अध्याय 6)। आधुनिक शिक्षण संस्थाओं के साथ-साथ भारत की सभ्यागत संस्थाओं में भी बौद्धिक विमर्श और ज्ञान-प्रतियोगिताएँ मुख्यत: पश्चिम से आयातित तर्क-पद्धति के आधार पर संचालित होने लगीं। परिणामस्वरूप शास्त्रार्थ का तकनीकी स्वरूप धीरे-धीरे लगभग सभी प्रकार की शिक्षण संस्थाओं के परिसरों और बौद्धिक सभाओं से बाहर हो गया।

तथापि, भारत के कुछ संस्कृत माध्यम के विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में, जैसे संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (दैनिक जागरण, 2019) तथा नाग-कूप शास्त्रार्थ समिति, वाराणसी (हिंदुस्तान लाइव, 2024), इस परंपरा के पुनर्जीवन के प्रयास किए जा रहे हैं। इसी क्रम में 8 जुलाई 2019 को उत्तर प्रदेश के राजभवन (अब लोकभवन) के परिसर में काशी (वाराणसी), मिथिला और दक्षिण भारत के विद्वानों के मध्य एक शास्त्रार्थ का आयोजन किया गया (टाइम्स ऑफ इंडिया, 2019)। परंतु ये आयोजन अधिकांशत: औपचारिकता तक ही सीमित रह गए हैं। पश्चिमी पद्धतियाँ तथा संवाद, शिक्षण और मूल्यांकन के रूप अब भारत के अधिकांश शिक्षण संस्थानों और बौद्धिक मंचों पर प्रमुख रूप से स्थापित हो चुके हैं।

हाल के वर्षों में विभिन्न आधुनिक विषयों में शास्त्रार्थ पर आधारित बौद्धिक विमर्श के अनेक प्रयास दिखाई दे रहे हैं। शास्त्रार्थ की संभावनाओं पर विस्तार से विचार करने से पहले, इससे संबंधित कुछ नवीन प्रवृत्तियों पर एक दृष्टि डालते हैं।

महाराष्ट्र राष्ट्रीय विधि विश्वविद्यालय (NLU), नागपुर ने कविकुलगुरु कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय, रामटेक के सहयोग से शैक्षणिक सत्र 2019 से विधि के विद्यार्थियों, अधिवक्ताओं और न्यायाधीशों के लिए 'शास्त्रीय तर्क-पद्धति (तर्क के

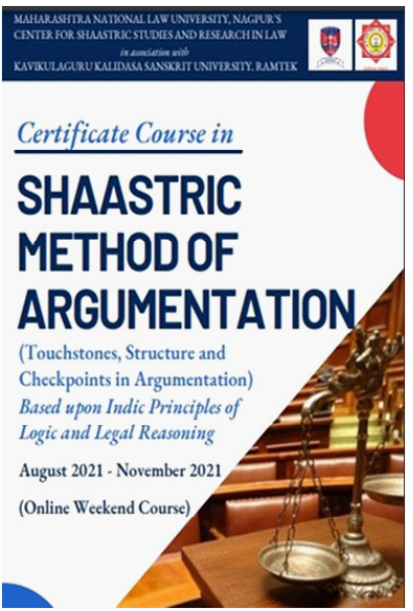

मानदंड, संरचना और परीक्षण-बिंदु)' पर एक प्रमाणपत्र पाठ्यक्रम[1] (Certificate Course) प्रारंभ किया। इस कार्यक्रम के संचालन हेतु दोनों विश्वविद्यालयों ने संयुक्त रूप से 'विधि में शास्त्रीय अध्ययन एवं अनुसंधान केंद्र' (CSSRL) की स्थापना एनएलयू नागपुर में की है, जिसका उद्देश्य 'शास्त्रीय ज्ञान के अन्वेषण द्वारा विधि में नवाचार' करना है। यह केंद्र विधि-शिक्षा, विधि-निर्माण, विधि-प्रयोग और प्रक्रिया, विधिक तथा तथ्यात्मक अन्वेषण, तर्क-वितर्क, व्याख्या, न्याय-प्रदान तथा संबंधित पद्धतियों के क्षेत्रों में भारतीय न्यायशास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर नवाचार करने की परिकल्पना रखता है। यह अद्वितीय अंतर-विश्वविद्यालयीय केंद्र शास्त्रीय ज्ञान और आधुनिक विधि-अध्ययन के समन्वय के माध्यम से विधि-विज्ञान के आधार को सुदृढ़ करने का आश्वासन देता है। यह पाठ्यक्रम शास्त्रार्थ के वाद दृष्टिकोण में नवाचार का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। आधुनिक विषयों के दृष्टिकोण से यह प्रमाणपत्र पाठ्यक्रम एक 'अंतरविषयी पाठ्यक्रम' है, जिसके लिए बहुआयामी शिक्षण-पद्धतियों का प्रयोग किया जा रहा है। इसके निम्नलिखित उद्देश्य हैं:

1. Certificate Course in Shastric Method of Argumentation, Maharashtra National Law University, Nagpur (https://nlunagpur.ac.in/PDF/Certificate:20Course:20Brochure.pdf).

1. तथ्यान्वेषण के लिए प्रमाणित ज्ञान के साधनों का ज्ञान प्राप्त करना,
2. विभिन्न प्रकार के तर्कों को समझना और उनमें भेद करना,
3. तर्क-प्रक्रिया की पद्धति और उसके विभिन्न चरणों का अध्ययन करना,
4. व्यवस्थित चिंतन विकसित करने तथा उसे सटीक रूप में व्यक्त करने का अभ्यास करना,
5. तर्क को तार्किक रूप से संरचित करने की क्षमता विकसित करना,
6. तर्कों की प्रभावी प्रस्तुति के कौशल को परिष्कृत करना,
7. तर्क में होने वाली भ्रांतियों और पराजय के बिंदुओं के प्रति जागरूकता उत्पन्न करना,
8. तर्क-वितर्क के नैतिक पक्षों के प्रति संवेदनशीलता विकसित करना।

क्राइस्ट विश्वविद्यालय, बेंगलुरु के विधि विद्यालय (SLCU) ने विधि नीति केंद्र (VIDHI) के सहयोग से 26-27 मार्च 2024 को 'शास्त्रार्थ-प्रथम राष्ट्रीय नीति प्रारूपण प्रतियोगिता' ('Shastrartha-1st National Policy Drafting Competition') की घोषणा की, जिसमें शीर्ष तीन दलों के लिए नगद पुरस्कार[1] रखे गए थे।

1. Shastrath National Policy Drafting Competition 2024 (https://shorturl.at/vHIER).

घोषणा के अनुसार, प्रतियोगिता का आयोजन तीन चरणों में निर्धारित किया गया था–लिखित प्रस्तुति, प्रारंभिक प्रस्तुति चरण और अंतिम प्रस्तुति चरण। एनएलयू नागपुर के विपरीत, एसएलसीयू ने न्यायशास्त्र के तकनीकी ढाँचे का अनुसरण नहीं किया, बल्कि एक ऐसा ढाँचा विकसित किया[1] जो सरल होने के साथ-साथ मूल्यांकन में व्यक्तिपरकता को कम करने का प्रयास करता हुआ प्रतीत हुआ, परंतु वह कम वैज्ञानिक और अधिक मनमाना भी लगा। तथापि, एसएलसीयू ने इस प्रतियोगिता को शास्त्रार्थ के जल्प दृष्टिकोण की मूल भावना और आधारभूत सिद्धांतों के अनुरूप रखा।

इसके अतिरिक्त, क्राइस्ट विश्वविद्यालय के वाणिज्य, वित्त और लेखा अध्ययन संस्थान के वित्त विभाग ने 'उत्कृष्टा 2.0' के अंतर्गत 'शास्त्रार्थ बिजनेस क्विज[2]' का आयोजन किया, जिसका सूत्रवाक्य था–'सभी सीमाओं को पार करें' ('Beat All Limits')। इसके अंतर्गत दो दिनों में सात प्रेरक कार्यक्रम आयोजित किए गए। प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी रुचि के क्षेत्र में प्रतियोगिता का अवसर दिया गया, जिसमें ज्ञान-परीक्षण हेतु क्विज से लेकर निरंतर परिवर्तित होते शेयर बाजार में अपनी क्षमता का परीक्षण करना शामिल था।

क्राइस्ट विश्वविद्यालय 'उत्कृष्टा 2.0' को स्वस्थ किन्तु तीव्र प्रतियोगिता के विकास-स्थल के रूप में वर्णित करता है, जिसमें व्यवसाय और अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाली समकालीन परिस्थितियाँ भी सम्मिलित होती हैं। 'सर्वोत्तम अन्य सब पर श्रेष्ठ' (Best Outshines the Rest) इस सूत्रवाक्य के साथ 'शास्त्रार्थ' संभावित प्रतिभागियों को इन शब्दों में आमंत्रित करता है–'यदि आपको लगता है कि आप कक्ष में सबसे अधिक बुद्धिमान व्यक्ति हैं, तो आप उचित स्थान पर नहीं हैं। इस बुद्धि और तर्क के संघर्ष में सहभागी बनें और देखें कि क्या आप सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर पाते हैं। और स्मरण रखें, असंगत साधन लेकर न आएँ।'

ये विचार शास्त्रार्थ के जल्प दृष्टिकोण के अनुरूप हैं। वस्तुतः विधिशास्त्र का मूल आधार भी जल्प दृष्टिकोण के निकट है, क्योंकि इसमें संबद्ध पक्ष (प्रतिपादक और प्रतिपक्षी) एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रेरित होते हैं। यही स्थिति

---

1. National Policy Drafting Competition (NPDC) & Brochure (https://shorturl.at/8WeBe')
2. Utchrista 2.0 -Event Brochure, Christ University (7 to 8 March 2022), (https://christuniversity.in/uploads/event/UTCHRISTA:202-20220212115643.pdf).

संदर्भ सूची

आप्टे, वामन शिवराम। (2007)। संस्कृत–हिंदी कोश। मोतीलाल बनारसीदास।

Ali, Y.A. (2009). *The Holy Quran: English Translation with Original Arabic Text*.

Altekar, A.S. (1934). *Education in Ancient India*. The Indian Book Shop, Benares (Varanasi).

Ambedkar, B.R. (1957). *Buddha and His Dhamma*, p. 188, Baile Japan (Digital publications),Available online (http://www.banaengp.com/book/buddhaandhisdhamma-english.pdf).

.... (2017). *Who were Shudras*? Thacker - Company Ltd., Bombay.

Arya, A.P. and K.L. Joshi (1998). *Rigveda Samhita. H.H. Wilson and Bhashya of Shankaracharya*, Parimal Publications, Delhi.

बाल शास्त्री। (2012)। हितोपदेश। वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।

Bauman, Z. (1992). *Intimations of Post Modernity*, Routledge.

Bayly, C.A. (2007). 'Rammohun Roy and the advent of constitutional liberalism in India, 1800-30'. *Modern Intellectual History* 4 (1): 25-41.

Berger, A. (2012). *Media Analysis Techniques*, Sage.

BhardÈaj, R. (2007). *The Vajrasuchi of Ashvaghosh and the Concept of Varna - Jaati through the Ages*, Vidyanidhi Prakashan.

Bernier, Francois (1891). *Travels in the Mougul Empire 1656-1668 A.D*. Oxford University Press.

Bloor M. and T. Bloor (2013). *The Practice of Critical Discourse Analysis*, Routledge, London.